Chapter-6

षष्ठ-अध्याय

(काव्य में अंकित राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना)

प्रथम अध्याय के अंतर्गत राष्ट्रीय जागरण की विविध भूमियों का दिग्दर्शन कराते हुए १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्धकालीन सांस्कृतिक पुनर्जागरण की तत्कालीन विषम परिस्थितियों की पृष्ठभूमि का अनुशीलन करते हुए यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि एक ओर जहां अंग्रेज कूटनीतिज्ञों के व्यवस्थित प्रयास के परिणाम स्वरूप आंग्ल संस्कृति का प्रभाव भारतीय जन-जीवन पर जादुई प्रभाव डाल रहा था वहां दूसरी ओर भारतीय संस्कृति के प्रति हीनता का भाव उत्पन्न हो रहा था। साथ ही लार्ड मैकोले के द्वारा प्रारंभ की गई अंग्रेजी शिक्षा- प्रणाली के कारण देश में बाबू संस्कृति आरंभ हो रही थी। अर्थात् भारतीय जन-मानस आंग्ल सभ्यता व संस्कृति को अपनाने के लिए लालायित हो रहा था। फलत: जो स्वत्वहीनता एवं आत्मगौरवहीनता का भाव जन-समाज में उत्पन्न हो रहा था उसके विरुद्ध स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ आदि समाज - सुधारकों तथा कवीन्द्र रवीन्द्र जैसे साहित्यकारों ने देश तथा विदेशों में भारतीय धर्म व संस्कृति की सर्वोपरिता सिद्ध कर दी। उन्हीं के सत्प्रयासों से एक बार पुन: देश में सांस्कृतिक चेतना की लहर उत्पन्न हो गई। इससे देश में एक ओर जागृति का एक ऐसा वातावरण निर्मित हुआ जिसने आगे चलकर राष्ट्रीय जागरण के आंदोलन को एक सशक्त पीठिका प्रदान की तो दूसरी ओर एक ऐसी वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न हुई जिससे संस्कृति के शाश्वत जीवन- मूल्यों की पुन: प्रतिष्ठा की अनिवार्यता समझी गई।

संस्कृति मानवजीवन को संस्कार प्रदान करनेवाली एक निरन्तर प्रक्रिया है। वह एक ऐसी चेतना है जो जीवन के समस्त व्यापारों एवं गतिविधियों में अन्त:सलिला की तरह प्रवहमान रहती है।[१] वह मानव को एक विशिष्ट जीवन दृष्टि प्रदान करती हुई व्यक्तिगत एवं समाजगत नैतिक जीवन मूल्यों व आदर्शों की ओर अग्रसर करती है। इस दृष्टि से वह एक सामाजिक भाव है जिसका निर्माण व

विकास निरन्तर मानव जीवन के व्यवहार के द्वारा अपने आप हुआ करता है । इस तरह संस्कृति के शाश्वत जीवन मूल्यों व आदर्शों का संप्रेषण पीढ़ी दर पीढ़ी होता रहता है । धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान तथा साहित्य के माध्यमों से उनका स्वरूप प्रकट होता रहता है किन्तु इनमें प्रबलतम एवं सर्वजन सुलभ माध्यम साहित्य ही है । वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी भी जाति या समाज के परम्परानुमोदित सांस्कृतिक जीवन मूल्यों को नूतन परिवेश में अंकित करने का यत्न करता है ।[2] इस दृष्टि से वह संस्कृति का प्रबल संवाहक एवं संरक्षक भी होता है । साथ ही मानवजाति के विविध अनुभवों तथा चित्तवृत्तियों का प्रतिबिंब साहित्य में झलकता रहता है ।[3] तदर्थ वह किसी जाति या समाज विशेष का मस्तिष्क एवं अंतःकरण है । संस्कृति के क्षेत्र में आत्मपरिष्कार को सर्वाधिक महत्व मिला है । इसी से मनुष्य उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ अपूर्णत्व से पूर्णत्व की ओर गमन करता है । उदात्त गुणों की वृद्धि करता हुआ मनुष्य स्वसाधना की अपेक्षा परसाधना में रत रहकर अपने समाज व राष्ट्र के लिए बड़े से बड़ा त्याग भी करता रहता है । मानव-प्रेम और करुणा के द्वारा वह समाज को सामान्य स्तर से ऊपर उठाने का यत्न करता है । साहित्य ऐसे महापुरुषों एवं संस्कृति के ज्योतिर्धरों का गुणगान करता रहता है । इस तरह संस्कृति और साहित्य का घनिष्ठ सम्बंध स्वयं सिद्ध है । भारतीय संस्कृति जो वैश्विक अन्य संस्कृतियों की तुलना में अपना विशिष्ट महत्व रखती है, मानव-प्रेम एवं करुणा पर आधारित लोकमंगल के उदात्त तत्व को संजोये हुए है । साहित्यकारों ने भी इस लोकमंगल को उत्कृष्ट प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है । साहित्य, विशेषकर कविता हृदय से हृदय का रागात्मक सम्बंध स्थापित करने में अधिक सक्षम रहती है । भारतीय संस्कृति के वास्तविक स्वरूप का दर्शन देश की विभिन्न भाषाओं के समृद्ध साहित्य में भलीभांति किया जा सकता है । यही संस्कृति अपनी समन्वय-कारिणी प्रकृति के कारण देशगत जाति, धर्म, भाषा आदि अनेकविध

अनेकताओं में एकसूत्रता स्थापित करती है । फलत: राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता का मूल आधार संस्कृति ही सिद्ध होता है । संस्कृति के विभिन्न उपकरण, वैयक्तिक उदात्त गुणों, सामाजिक स्वस्थ परंपराओं, शाश्वत जीवन मूल्यों व आदर्शों का राष्ट्र के स्वरूप निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है । इस दृष्टि से संस्कृति राष्ट्रीयता का प्राण है । 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का सिद्धान्त प्रस्तुत करनेवाली भारतीय संस्कृति केवल राष्ट्र की ही नहीं समस्त विश्व के कल्याण की कामना करती है । अत: उसके सम्यक् रक्षण एवं पोषण का दायित्व राष्ट्र के समस्त मानव-समाज का होता है । प्रत्येक राष्ट्र अपनी संस्कृति की गरिमामय पीठिका के आधार पर ही गौरवयुक्त स्थायीत्व ग्रहण करता है । यह राष्ट्र की चरम निधि है । जब कभी राष्ट्रीय जनजीवन में सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास परिलक्षित होता है, अर्थात् राष्ट्र स्वत्वहीन तथा आत्मशक्तिरहित होने लगता है तभी राष्ट्र की स्वाधीनता संकट में पड़ जाती है । अतएव राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का यह पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि वह अपनी संस्कृति की सुरक्षा आवश्यकता पड़ने पर त्याग एवं बलिदान देकर भी करे ।

यह निर्दिष्ट किया गया है कि साहित्य जीवनगत मूल्यों व आदर्शों का चित्रण करता रहता है । यद्यपि जीवन मूल्य युग सापेक्ष होते हैं तथापि कतिपय मूल्य ऐसे भी होते हैं जिन्हें जन जीवन का युगों तक विश्वास प्राप्त होता रहता है । फलत: वे चिरस्थायी आदर्शों के रूप में शाश्वत कहे जाते हैं । निस्वार्थ मानव-प्रेम, करुणा, नैतिकता, निस्वार्थ त्याग एवं बलिदान की भावना, आत्म-संयम आदि ऐसे ही शाश्वत मूल्य हैं जो युगीन सीमाओं का अतिक्रमण कर मानव-समाज के व्यावहारिक जीवन में आदर प्राप्त करते रहते हैं । साहित्य, युगीन नूतन जीवन-मूल्यों के साथ-साथ, प्रेरणा के लिए तथा उन शाश्वत मूल्यों की पुन:-स्थापना के लिए भी प्रयत्नशील रहता है । अतीतकालीन आदर्श-चरित्रों के मार्मिक-प्रसंगों का उद्घाटन करने के पीछे कवि या साहित्यकार का लक्ष्य यह होता है कि

उनसे प्रेरणा प्राप्त करता हुआ मानव-समाज पुन: उन जीवन-मूल्यों को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करे ।

उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण का भी प्राय: यही उद्देश्य रहा । इस आंदोलन के द्वारा एक ओर विदेशी शिक्षा के विरोध में जहाँ विद्यालयों-महाविद्यालयों की स्थापना कर भारतीय संस्कृति के मूल्यों की सुरक्षा का प्रयास किया गया, वहाँ दूसरी ओर वैचारिक क्रांति के फलस्वरूप आधुनिक हिन्दी - साहित्य ने संस्कृति के शाश्वत कहे जानेवाले मूल्यों की पुन: स्थापना का प्रयास प्रारंभ किया । इस दिशा में प्राय: सभी कवियों ने अपना योगदान दिया । भारतीय उज्ज्वल अतीत के भव्य चित्रों व मार्मिक घटना-प्रसंगों को उभारते हुए उनकी तुलना में वर्तमान जीवन की कुरूपता को निर्दिष्ट करने का उन्होंने प्रयास किया । साथ ही उनका गौरवगान करते हुए उन ज्योतिर्धरों के वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन से सम्यक् प्रेरणा लेते हुए उन जीवन मूल्यों को मानव-जीवन में महत्त्व को भी प्रतिष्ठित किया । जिन समाज-सुधारकों ने नारी के उत्थान एवं उसके सामाजिक महत्त्व को स्थापित करने के लिए एक ओर सती-प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह आदि में आवश्यक परिवर्तन किया तो दूसरी ओर नारी-शिक्षा के लिए शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना की, उनसे प्रेरणा लेते हुए तत्युगीन कवियों ने अतीतकालीन श्रेष्ठ नारियों के उज्ज्वल चरित्र अंकित करते हुए तथा कतिपय उपेक्षित नारियों के त्याग की कद्र करते हुए उन्हें समाज में समुचित न्याय दिलाने का प्रयास किया । मैथिलीशरण गुप्त द्वारा लिखित `यशोधरा`, `विष्णुप्रिया`, `साकेत` के अंतर्गत चित्रित उर्मिला, कैकेयी आदि इसके प्रमाण हैं । तात्पर्य यह कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण की एक सशक्त धारा राजनीतिक चेतना की जागृति के अतिरिक्त राष्ट्र में प्रवहमान रही । संस्कृति के मूल्यों की पुन: स्थापना के क्षेत्र में राष्ट्रीय कवियों के उपरान्त छायावादी कवि प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा आदि भी

प्रयत्नशील रहे । प्रसाद, निराला आदि ने भारतीय उज्ज्वल अतीत के सुन्दर चित्र अंकित कर भारतीय संस्कृति की दिव्यता की झांकी कराई तो महादेवी ने उसके चिन्तन एवं दर्शन पक्ष को उजागर किया ।

राष्ट्रीय जागरण का शंखनाद करनेवाले पं० सोहनलाल द्विवेदी ने भी सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों की पुन: प्रतिष्ठा के उक्त प्रवाह में यथोचित योगदान देने का प्रयास किया है । कवि की दृढ़ मान्यता रही है कि यदि देश स्वतंत्र भी हो गया, किन्तु उसका आदर्श, सभ्यता, संस्कृति, नैतिक पृष्ठभूमि पुष्ट नहीं है तो वह जाति अधिक दिन अपने पांवों पर खड़ी नहीं रह सकती ।'[४] अर्थात् उक्त विधान के अनुसार राजनीतिक स्वतंत्रता के उपरान्त कवि भारतीय संस्कृति के नैतिक मूल्यों पर आधारित समाज नव-रचना में मानते हैं । सच्चे अर्थों में मानव-समाज की सामाजिक व आर्थिक प्रगति एवं सुस्थिरता उसकी चारित्रिक दृढ़ता पर निर्भर है । चरित्र की अनुपस्थिति में राष्ट्र चाहे विविध क्षेत्रों में भौतिक विकास की अनेकविध सिद्धियां प्राप्त कर ले तथापि कवि के विचार से वह राष्ट्र दीर्घजीवी नहीं हो सकता । अर्थात् कोई भी राष्ट्र अपने पारम्परिक जीवनादर्शों एवं नैतिक जीवन मूल्यों के आधार पर ही वास्तविक एवं चिरस्थायी प्रगति कर सकता है । कवि के समग्र काव्य का अध्ययन-अनुशीलन करने पर प्रमुखतया दो तथ्य प्रकाश में आते हैं । ये हैं - (१) राष्ट्रीय जागरण एवं स्वाधीनता प्राप्ति का प्रयास तथा (२) राष्ट्र -निर्माण एवं सांस्कृतिक जीवन मूल्यों की पुन: स्थापना का प्रयास । प्रथम तथ्य पर विगत अध्याय में अध्ययन किया जा चुका है । प्रस्तुत अध्याय में सांस्कृतिक मूल्यों की पुन: स्थापना के क्षेत्र में किये गये कवि के प्रयासों के संदर्भ में अध्ययन किया जावेगा । 'वासवदत्ता', 'कुणाल' तथा 'विषपान' जैसी सांस्कृतिक रचनाओं का सर्जन करके कवि ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया है उसका विशद अध्ययन तो इस अध्याय का प्रतिपाद्य है, किन्तु उनकी राष्ट्रीय रचनाओं के अंतर्गत भी अनेक ऐसी रचनाएं हमें मिलती हैं जिनमें सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा एवं

प्रतिष्ठा का प्रयत्न दृष्टिगत होता है । इनमें कवि ने अतीतकालीन महापुरुषों राजाओं एवं भगवान शंकर जैसे देवों के मार्मिक घटना- प्रसंगों का उल्लेख करते हुए जन-समाज व राष्ट्र को उनके उदात्त गुणों से प्रेरणा लेने के लिए उपदिष्ट किया है । एक ओर संस्कृति के संरक्षक एवं सुमेरु प्रतिनिधि के रूप में करुणावतार बुद्ध, भगवान शंकर, गोस्वामी तुलसीदास प्रभृति के वैयक्तिक उदात्त गुणों एवं उनके आचरण से समाज को ऐसा उदात्त जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान की है तो दूसरी ओर अशोक, शिवाजी तथा राणाप्रताप जैसे प्रतापी राजाओं की वीरता एवं प्रजावत्सलता से बोध लेते हुए राष्ट्र के चरणों में अपना जीवन समर्पित कर देने की भावना प्रदान की है । 'भैरवी' में -'बुद्धदेव के प्रति', 'तुलसीदास', 'राणा-प्रताप'; 'पूजागीत' में -'मंगलमय बल दो', 'क्या अब तुम फिर आ न सकोगे', 'स्वागत तुलसी के आंगन में', 'है सभी घट में रमा वह'; 'प्रभाती' में - 'जागो बुद्धदेव भगवान्', 'अशोक की हिंसा से विरक्ति', 'विक्रमादित्य', 'अकबर और तुलसीदास'; 'चेतना' में -'हर हर महादेव जय - जय'; 'युगाधार' में -'आत्मबोध', 'महाभिनिस्क्रमण', 'हमको ऐसे युवक चाहिए' तथा 'मुक्तिगंधा' में -'ओ पत्थर की प्रतिमा पिघलो', 'अशोक', 'पेशवा शिवा' आदि कविताएं उल्लेखनीय हैं । इन कविताओं में कवि ने उन ज्योतिर्धरों के वैयक्तिक उदात्त गुणों का अंकन करते हुए तत्युगीन परिस्थितियों में उनके निष्कलुष आचरण को उभारने का प्रयत्न करके मानव - समाज में सांस्कृतिक जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना करने का यत्न किया है । इसके अतिरिक्त स्वातंत्र्योत्तर कालीन उनकी रचनाओं का संग्रह 'मुक्तिगंधा' यद्यपि राष्ट्रीय संदर्भों में लिखी गई राष्ट्रीय-कृति है तथापि उसमें भी चरित्र भ्रष्ट शासकों को जीवन मूल्यों की सुरक्षा एवं सुप्रतिष्ठा के लिए दी गई उलाहना की प्रवृत्ति भलीभांति दृष्टिगत होती है ।

सामान्यतः कोई भी साहित्यकार या कवि जन-समाज की उदात्त चेतना के

निर्माण के लिए अतीतकालीन गौरवमय चरित्रों तथा घटनाओं के मार्मिक प्रसंगों का उद्घाटन करते हुए यह निर्दिष्ट करने की चेष्टा करता है कि विशिष्ट एवं विषम परिस्थितियों में उनका आचरण कैसा रहा है ? वे सर्व- साधारण मनुष्य के आवेग-पूर्ण व स्वार्थपरक आचरण की अपेक्षा अपने शांत एवं गंभीर उदात्त व्यक्तित्व के निरूपण द्वारा आत्मीयता, उत्कृष्ट जीवन-दृष्टि, त्याग, करुणा जैसे गुणों पर आधारित व्यवहारों को प्रकाश में लाने को उन्मुख होते हैं । मानवता का निर्माण एवं जन-समाज के बीच उसकी सुदृढ़ प्रतिष्ठा इसी प्रवृत्ति के कारण हुआ करती है । ये ही वे सच्चे ज्योतिधर हैं, जिनकी रश्मियों का आलोक समस्त मानव-समाज में विस्तारित हुआ करता है । इसी कारण सांस्कृतिक काव्यों में भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करनेवाले चरित नायकों तथा उनके जीवन के ऐसे प्रेरणास्पद पक्षों को उनका विषय बनाया गया है ।

यह उल्लेखनीय है कि सांस्कृतिक काव्यों की कोटि में आनेवाली द्विवेदी जी की उपरिनिर्दिष्ट कविताएं प्राय: भारतीय संस्कृति के आदर्शवादी पक्ष को प्रकाश में लाती है । अत: इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए इन रचनाओं का अनुशीलन निम्नलिखित शीर्षकों के माध्यम से किया जा सकता है -

१) आत्म संस्कार मूलक वैयक्तिक जीवन दृष्टि ।

२) सामाजिक जीवन दृष्टि :-

(क) नैतिकता और जीवनगत उदात्तता ।

(ख) समाज-सेवा का आदर्श ।

३) जीवन- मूल्य ।

(१) आत्म संस्कार मूलक वैयक्तिक जीवन दृष्टि :

कोई भी राष्ट्र व्यक्ति एवं समाज के युग्म का प्रतिफल है । दोनों परस्परावलंबित हैं । किसी भी समाज व राष्ट्र के वास्तविक उत्थान का मूल आधार व्यक्ति ही होता है । तदर्थ भारतीय संस्कृति के आर्षद्रष्टा मनीषियों ने वैयक्तिक संस्कारों को अधिक महत्व प्रदान किया है । मानव बुद्धिप्रधान प्राणी है । अतः सर्व-सामान्य मनुष्य केवल बुद्धि से परिचालित होकर स्वार्थपरक चिन्तन एवं व्यवहार करता हुआ घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, प्रतिशोध आदि कलुषित वृत्तियों का शिकार होता रहता है । तदर्थ वह रागात्मक जीवन यापन करते हुए निरन्तर संघर्ष का सामना करता हुआ है । स्वसुख एवं स्वप्रीति का परिपालन करते हुए वह स्थूल भौतिकवादी साधनों की प्राप्ति और उनसे प्राप्त क्षणिक ऐन्द्रिय सुख को ही अपना जीवन- लक्ष्य बना लेता है । वह आजीवन अपने ही लिए जीवित रहता है, समाज व राष्ट्र के लिए नहीं । अपवाद के रूप में कुछ व्यक्ति सर्वसाधारण मनुष्यों से ठीक विपरीत सहिष्णुता, क्षमा, प्रेम, त्याग, करुणा आदि चित्तवृत्तियों से प्रेरित होकर सात्विक व उच्चस्तरीय आत्मसंयमपूर्ण जीवनयापन करते हैं । सामान्य मानव का-सा इनका जीवन स्वकेन्द्रित एवं कुत्सित मनोवेगों से परिचालित नहीं होता । जीवन की विषम परिस्थितियों में उनके आत्म-संस्कारों की परीक्षा होती है । परोपकारी संत का-सा जीवन जीते हुए वे त्याग एवं बलिदान के लिए तत्पर रहते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे लोग समाज व राष्ट्र के सच्चे ज्योतिर्धर और संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि होते हैं ।

पंडित सोहनलाल द्विवेदी ने `वासवदत्ता`, `कुणाल` और `विषपान` नामक जिन सांस्कृतिक रचनाओं का प्रणयन किया है, उनके अंतर्गत चित्रित चरित्रनायकों का वैयक्तिक जीवन ऐसी ही उदात्त चारित्रिक विशेषताओं से संपन्न दिखाया है । `वासवदत्ता` का परिचय देते हुए चतुर्थ अध्याय में उसके आठों उपाख्यानों का

विषय-वस्तुगत परिचय दिया जा चुका है । यद्यपि इन आठों उपाख्यानों में सभी चरित्र नायक चारित्रिक उदात्तता से सम्पन्न हैं, तथापि यह कहा जा सकता है कि 'वासवदत्ता', 'उर्वशी', 'कुणाल' तथा महाभिनिष्क्रमण जैसे चार उपाख्यान व्यष्टि-परक हैं । अर्थात् इनमें आत्मसंस्कारपरक जीवन दृष्टि को प्राधान्य देते हुए वैयक्तिक उदात्तता को प्रस्तुत किया गया है ।

वासवदत्ता उपाख्यान में चित्रित तथागत का चरित्र ~~अतुलनी~~ अतुलनीय ऊँचाई तक उठाया गया है । कामार्त वासवदत्ता के प्रणय-निवेदन को विकाररहित स्थितप्रज्ञता के साथ जो अस्वीकृति प्रदान की गई है वह सांस्कृतिक दृष्टि से नैतिक जीवन मूल्य की प्रतिष्ठा का द्योतक है । यथा-

'गौतम यह देखकर,
माया सब लेखकर,
चकित-से, विस्मित-से, भ्रमित-से, अवाक्-से,
लगे देखने सभी लीला वासवदत्ता की,
शांत हो बोले साधु
'देवी, क्या कहती हो ?
सावधान होकर जरा सोचो तो
कहती क्या ?
किससे फिर ?
आज मैं अतिथि नहीं बनूंगा इस गृह में ।'[5]

बड़े- बड़े चक्रवर्तियों को भी लुब्ध करनेवाला उसका रूप-यौवन तथागत को नहीं विचलित कर पाता । उसके रूप यौवन के आकर्षण का चित्र खींचते हुए कवि कहते हैं -

'यौवन यह, रूप यह, जिसे प्राप्त करने को
यती यत्न करते, तपी तपते पंचाग्नि नित्य,
बड़े-बड़े चक्रवर्ति मुकुट विसर्जित कर
चाहते अधर का दान, चाहते भृकुटि का दान ।'[६]

आगे चलकर इस अनिंद्य सुन्दरी की जराजीर्ण और जन-साधारण के लिए भी घृणास्पद स्थिति आ जाती है तब तथागत उसे रोगमुक्त करने के लिए सेवा भाव से अनाहूत उपस्थित हो जाते हैं । सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से यह भारतीय संस्कृति की लोककल्याण की भावना का परिचायक कहा जा सकता है । इसके लिए कवि ने दो बड़े प्रभावी शब्द-चित्र खींचे हैं - प्रथम में वासवदत्ता की रूप - यौवन सम्पन्न कामिनी की स्थिति है और दूसरे में उसकी रोगग्रस्त जराजीर्ण अवस्था । गौतमबुद्ध द्वितीय अवस्था में उसके द्वार पहुंचते हैं किन्तु अब वह कामिनी नहीं उनकी करुणा और दया की उपयुक्त पात्र बन चुकी है । स्वयं कवि भी तथागत के उक्त व्यवहार से अत्यन्त प्रभावित हैं । तदर्थ वे रचना की भूमिका में 'वासवदत्ता' के प्रति ममत्व प्रदर्शित करते हुए उक्त रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हैं तथा उससे मानव-समाज के उदात्त चरित्र की आशा भी व्यक्त करते हैं । 'वासवदत्ता मुझे उत्कृष्ट रचना इसलिए जान पड़ती है कि इसके पढ़ने के पश्चात् हमारी वासना नीचे दबती है और आत्मा ऊपर उठती है । बारम्बार इस रचना के पढ़ने का अर्थ यही होगा कि जब कभी जीवन में कोई वासवदत्ता हमारे सामने उसी हाव-भाव और कटाक्ष से यौवन समर्पित करेगी, हम एक बार सजग हो जाएंगे । यह कथानक उस समय, हमें गौतम के गौरव को प्राप्त करने का प्रलोभन ही नहीं देगा, प्रत्युत आत्मशक्ति भी । यदि हम सचमुच ऐसे परीक्षा के समय वासना को नीचे दबा सके, और ऊपर उठ सकें, तो इससे अधिक कविता से और क्या आशा करनी चाहिए ? यहीं, मैं समझता हूं, साहित्य का, कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है ।'[७]

समान विषय-वस्तुवाले `उर्वशी` एवं `कुणाल` कथानकों के चरित्र नायक क्रमश: `पार्थ` एवं `कुणाल` के सम्मुख भी उर्वशी एवं तिष्यरक्षिता के द्वारा प्रणय-निवेदन किया जाता है। किन्तु दोनों चरित्रनायक माँ के पवित्र बन्धन का अतिक्रमण न करने के उद्देश्य से उसे अस्वीकार कर देते हैं। दोनों नायिकाएँ कामांध रूपगर्विता सुन्दरियाँ हैं और प्रकोष्ठ का एकांत स्थल भी है। इस रति अनुरूप परिस्थितियों के होते हुए भी `पार्थ` एवं `कुणाल` का अपने निर्णय में अटल रहना, मात्र विधिनिषेध युक्त अस्वीकरण नहीं[5], अपितु चरित्रनायकों का संस्कारजन्य आत्म संयम भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रणय निवेदन की दृष्टि से यद्यपि `तथागत`, `अर्जुन` एवं `कुणाल` की मन:स्थितियां प्राय: समान हैं,[6] तथापि इनमें तथागत का ही व्यवहार सर्वोत्कृष्ट माना जाएगा। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि `अर्जुन` एवं `कुणाल` का वैयक्तिक चरित्र अच्छा नहीं है। दोनों में विवेक तथा संयम का बल है, जो आपत्कालीन परिस्थितियों में अथवा उनके आत्मपरीक्षण काल में उनके चरित्र का परित्राण करता है। `अर्जुन` या `कुणाल` में से किसी को परिस्थितियों का अनुचित लाभ उठाने का विचार तक नहीं आता। दोनों चरित्रनायक माँ के प्रति पूज्य भावना से प्रेरित होकर प्रणय-निवेदकों को अपने अविवेकपूर्ण, अनुचित व्यवहार के लिए सावधान करते हुए उचित दिशादर्शन भी करते हैं और अपने निर्णय पर अटल रहते हैं। यथा-

(१) `सोचता रहा सदैव कितनी तुम
गरिमामयी, महिमामयी
तपोमयी, तेजमयी,
जिससे उद्भूत हुआ निर्मूलतम
देववंश। --------
बोले पार्थ -
`विश्व सुन्दरी! व्यथित न हो,

उच्छ्वसित हो के, व्यर्थ व्याकुल मूर्छित न हो,
मैं हूँ अयोग्य सर्वथा ही इस दान के ।'[९]

(२) 'माता क्या कहती हो ?
किधर आज बहती हो ? ------
हाँ, कह सकता हूँ माँ । मैं कदापि नहीं
मुझे विगलित कर रही हो किस कर्म में,
आती क्या तुम्हें है नहीं शर्म ?
संकोच,
लाज ?'[१०]

इधर 'उर्वशी' एवं तिष्यरक्षिता कामांध स्थिति में सद्विवेक खो चुकी हैं । तदर्थ नायकों के सद्व्यवहार एवं उचित दिशादर्शन को अन्यथा समझकर कुत्सित मनोवेगों से परिचालित होकर घृणा, ईर्ष्या एवं क्रोध की शिकार हो जाती हैं । तभी तो दोनों प्रतिशोध का निश्चय करती हैं । एक ओर उर्वशी, क्रोध के अनल में प्रदिप्त मन:स्थिति के साथ अर्जुन को अनादृत एवं प्रवंचित नारी की वेदना का अनुभव करने के निमित्त बृहन्नाला का जीवन जीने का अभिशाप प्रदान करती है, तो दूसरी ओर राजमहिषी निर्दया तिष्यरक्षिता प्रतिशोध की असह्य वेदना की अनुभूति करती हुई षडयंत्र करके निर्दोष कुणाल की आँखें निकलवाकर उसकी पत्नी कांचना समेत उसे निर्वासित करा देती है । यथा -

(१) 'अबला पर तूने किया है पदाघात ।
कोमलतम भावनाओं पर कठिनतम संघात
नारीत्व पर तूने किया है प्रतिघात ।
तो तू
नराधम ।
नर होकर हो, नरत्व-हीन,
नारी हो,

मुझसे भी अधिक व्यथित ग्रथित दीन,'[११]

(२) 'रानी के मन में तो चलता षडयंत्र था,
वह कूट तंत्र था,
अवसर के पाते ही
उसने राज्यमुद्रा से मुद्रित कर आज्ञापत्र,
सेनाधिप को भेज दिया
'आज ही कुणाल की दोनों आंखें निकाल
कर दो निर्वासित उसे देश से सदा के लिए ।
यही राजाज्ञा है,
इच्छा सम्राट की ।'[१२]

इन पंक्तियों में कवि ने उर्वशी एवं तिष्यरक्षिता की राजसी एवं तामसी मनोवृत्तियों का प्रदर्शन कराया है । किन्तु वासवदत्ता ऐसी स्थिति में तथागत को न अभिशाप देती है और न किसी षडयंत्र का सहारा लेती है । वह शुद्ध एवं सात्त्विक चित्तवृत्तियों से परिचालित होती हुई तथागत की पुन: पधारने की आशा में वर्षों तक आराधना करती रहती है । अन्तत: उसका असफल प्रणय अर्चना एवं वंदना की कोटि तक पहुंच जाता है । यथा-

'अर्चना अचल बनी
वंदना सफल बनी'[१३]

दूसरे शब्दों में वासवदत्ता पूर्णरूपेण राजस एवं तामस चित्तवृत्तियों से ऊपर उठकर शुद्ध सात्त्विक प्रेम का प्रदर्शन करती है । नायिका ही नहीं नायक तथागत भी समाज-सेवा का निश्छल व्रत धारण किये हुए करुणामूर्ति बनकर दु:साध्य रोग से जर्जरित एवं सबकी ओर से तिरस्कृत, विस्मृत वासवदत्ता की सेवा करने के उद्देश्य से

स्वयं पुनरागमन करते हैं और सच्चे अर्थों में उसकी शरणागति-प्रपत्ति स्वीकार करते हैं। यथा-

(१) 'करुणामय विलोक शोकयुक्त रमणी को,
काँप उठे करुणा से
पिघल उठे दुःख से ।
गौतम ने अपने पुण्यपाणि से
फफोलों पर, छालों पर, घाव पर, पीप पर,
शीतल जल छिड़का,
निज हाथ से धोया उसे
जी-सी उठी मृत-हत वासवदत्ता तुरंत ।'[१४]

(२) 'वासवदत्ता नत चरणों में
मस्तक धर
हृदय धर
जीवन धर
प्राण धर
जड़-सी बनी बैठी वहीं,
बोल कुछ पाई नहीं,
हो गई मौन, कह पाई कुछ बात नहीं ।'[१५]

प्रस्तुत प्रत्याख्यान से तथागत एवं वासवदत्ता की दिव्य चरित्रगत उदात्तता का ऐसा अमिट प्रभाव पाठक पर पड़ता है कि वह भी अपने जीवन में किसी वासवदत्ता के प्रणय-निवेदन के स्व-परीक्षण काल में क्षण भर विचार करने को बाध्य हो सकता है । अर्थात् उस समय उसकी आत्मशक्ति जागृत होने की संभावना दृढ़ीभूत होती है ।

'उर्वशी' एवं 'तिष्यरक्षिता' के व्यवहार से वासवदत्ता की-सी चरित्रगत उदात्तता की अनुभूति नहीं होती । इन दोनों के प्रति घृणा एवं तिरस्कार का भाव उदित होता है । हाँ, ऐसी घृणित एवं विपरीत स्थिति में भी 'अर्जुन' तथा 'कुणाल' दोनों चरित्र नायक अक्रोध, सहिष्णुता एवं आत्मसंयम जैसे उदात्त वैयक्तिक गुणों के द्वारा क्षमायुक्त व्यवहार करते दिखाये गये हैं । यदि चरित्रगत उक्त गुणों रूपी मुक्तामणियों से वे विभूषित न होते और केवल विधि निषेध युक्त मर्यादा ही उनके सामने होती तो मर्यादाओं या लक्ष्मण रेखाओं का अतिक्रमण कर देनेवाली उर्वशी एवं तिष्यरक्षिता का या तो स्वयं भी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर प्रणय-निवेदन सहर्ष स्वीकार कर लेते और क्षणिक ऐन्द्रिय लाभ उठा लेते, या कम से कम अनुचित एवं अनैतिक व्यवहार करनेवाली उन कामांध दोनों नायिकाओं के प्रति प्रतिशोधात्मक व्यवहार करते हुए उन्हें यथोचित दंड देते । यह सब न करते हुए अपनी उदार जीवन दृष्टि के परिणामस्वरूप उन्हें क्षमा प्रदान करते हैं । द्विवेदी जी ने 'उर्वशी' एवं 'तिष्यरक्षिता' के चरित्रांकन में भी एक विशेष अंतर दिखाते हुए दोनों की प्रकृतिगत भिन्नता स्पष्ट की है । उर्वशी पार्थको अभिशाप देने के पश्चात् पार्थ का क्षमाशील स्वभाव देखने पर भी अपने अनुचित आचरण पर अनुताप नहीं करती किन्तु कुणाल के क्षमादान पर तिष्यरक्षिता का हृदयपरिवर्तन दिखाया गया है । उसे दरबार में ही सबकी उपस्थिति में अनुताप की आग में जलती हुई तथा कुणाल की क्षमायाचना करती हुई प्रदर्शित किया गया है । आत्मग्लानियुक्त पश्चाताप व्यक्त करते हुए वह कहती है -

'क्षमा माँगूँ कैसे मैं आज ?
किया मैंने हा, कितना पाप ?
देव दुर्लभ सुत को पा गोद,
दिया था मैंने इनको शाप ।

क्यों न यह धरा हुई सौ खंड,
उसी में धंस होती मैं चूर्ण,
आह । विधि ने मेरे ही व्याज,
कौन सी इच्छा की निज पूर्ण ।

बढ़ी जब तिष्य लगाने अंक,
झुके पदतल कांचना कुणाल,
वह उठी नयनों से जलधार,
न रानी निज को सकी संभाल ।
कहा चिरजीवो देवी देव ।
क्षमा दो मुझ पापिन को आज,
नयन से उमड़ा करुण प्रवाह,
कि डूबा विह्वल सकल समाज ।[१६]

यहाँ कवि का यह अभिप्रेत स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसात्मक एवं क्षमाशील व्यवहार के द्वारा निर्दय एवं कठोरतम व्यक्ति का भी हृदय परिवर्तन कराया जा सकता है । इतना ही नहीं उसमें देवत्व भी जागृत कराया जा सकता है । कुणाल के व्याख्यान के द्वारा राष्ट्रीय पुनर्जागरण के युग में गांधीवादी चिन्तन प्रणाली के आधार पर कठोरतम व्यक्ति के भी हृदय-परिवर्तन कराने की प्रक्रिया की ओर कवि संकेत करते हैं । वासवदत्तांतर्गत 'कुणाल' लघु आख्यान की रचना करने के उपरान्त भी कवि ने पृथक उसका खण्डकाव्य के रूप में प्रणयन किया, उसका एकमात्र उद्देश्य यह हो सकता है कि कुणाल के ऐतिहासिक चरित्र में कवि को संभवत: गांधी निर्दिष्ट अहिंसक सेनानी के दर्शन हुए होंगे जो युगसापेक्ष है और जिसके पूर्ण अहिंसक एवं उदात्त वैयक्तिक चरित्र को वे जन-समाज के सम्मुख रखकर जन-मानस को उससे संप्रेषित करना चाहते हों ।[१७] वस्तुत: कुणाल का चरित्र उदात्त चरित्र है जो क्षमा, धृति, परोपकार, अहिंसा तथा सर्वस्व परित्याग करने की शुभ भावनाओं से परिपुष्ट जीवनदृष्टि लिये हुए है ।

चतुर्थ उपाख्यान `महाभिनिष्क्रमण` में भी कवि ने वैयक्तिक साधना व आत्म-संस्कार(परिष्कार) की आवश्यकता पर बल दिया है । गौतम का वैभव-युक्त राज्यसुख, प्रियपत्नी यशोधरा का विलासपूर्ण संग एवं वात्सल्यपूर्ण नवजात शिशु राहुल के अत्यधिक आकर्षणकारी प्रलोभनों का परित्याग कर आत्मसंस्कार के निमित्त वनप्रयाण करना आधिभौतिक सुखों की वैराग्यपूर्ण तिलांजलि को तो निर्दिष्ट करता ही है, साथ ही यह भी व्यंजित करता है कि जब तक व्यक्ति स्वयं साधना के बल पर निजी चरित्र को उदात्त नहीं बना लेता, जब तक घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, कामवासना आदि विकारों से ऊपर उठकर व्यापक जीवन दृष्टि ~~प्रबल~~ प्राप्त नहीं कर लेता अर्थात् स्वयं आत्मशक्ति सभर नहीं हो जाता तब तक वह मानव-समाज की निस्वार्थ एवं निष्कपट भाव से सेवा नहीं कर सकता । सामाजिक जीवन में चरित्रभ्रष्टता के अनेकविध प्रलोभनकारी प्रसंगों में वैयक्तिक उदात्त चरित्र की परम आवश्यकता रहती है । इसकी अनुपस्थिति में समाज चरित्र भ्रष्ट होकर परम्परा-प्राप्त अपनी नैतिक मर्यादाओं एवं संस्कृति के सनातन जीवन मूल्यों का विस्मरण कर ह्रासोन्मुख हो जाता है । यद्यपि `महाभिनिष्क्रमण` में गौतम की मनोमंथनकारी मानसिक प्रक्रिया को ही प्रदर्शित किया गया है तथापि गौतम के गृह परित्याग के अंतर्गत आत्मज्ञानमूलक परिष्कार के उपरान्त मानव-जगत् के दु:खनिवारण की करुणा-जन्य बलवती सामाजिक भावना भी निहित है । तभी तो ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् शेष जीवन ~~है अब~~ अरण्य में व्यतीत करने की अपेक्षा त्रिविधताप से परितप्त मानव-समाज के उद्धारार्थ `वासवदत्ता` जैसे जीवों की निस्वार्थ-निरीह भाव से वे सेवा करते नजर आते हैं । इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि `महाभिनिष्क्रमण` यदि गौतम के आत्मपरिष्कारमूलक कथा है तो `वासवदत्ता` वासनाग्रस्त मानव समाज के लोकमंगल की कथा है । एक पूर्वार्द्ध है तो दूसरी उत्तरार्द्ध ।

उपर्युक्त चारों कथाओं के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि `तथागत`, `पार्थ` एवं ~~के~~ `कुणाल` जैसे चरित्रनायकों में इन्द्रियनिग्रह, नैतिकता, क्षमा, सहिष्णुता,

अक्रोध, त्याग आदि उदात्त चारित्रिक गुण दृष्टिगत होते हैं। उनकी जीवन दृष्टि व्यापक और औदार्यपूर्ण है। वे सदैव परोपकारी जीवन यापन करते हुए मानव-समाज को अपनी आदर्शवादी उदात्त जीवन-प्रणाली का परिचय व प्रेरणा प्रदान करते हैं। साथ ही यह भी व्यंजित करते हैं कि उदात्त चरित्रयुक्त नैतिकतापूर्ण जीवन स्वकीय स्तर पर कष्टपूर्ण होते हुए भी समाज, जाति या राष्ट्र के उत्कर्ष का स्थायी कारण होता है और वैश्विक शांति का मूल स्रोत। द्विवेदी जी ने इसी भावना से भावित होकर राष्ट्र-निर्माण के निमित्त वैयक्तिक चरित्र-निर्माण के पक्ष को इस तरह उजागर किया है।

(२) सामाजिक जीवन दृष्टि :

(क) नैतिकता एवं जीवनगत उदात्तता :

वैयक्तिक स्तर पर चारित्रिक उदात्तता औदार्यपूर्ण जीवन दृष्टि के विकास में सहायभूत होती है। पूर्ववर्ती पृष्ठों में जिन वैयक्तिक गुणों का उल्लेख किया गया है उनके आधार पर ही समाज का सुदृढ़ भवन निर्मित किया जा सकता है। सामाजिक, आर्थिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं के सुखद समाधान के लिए अर्थ की सार्वजनिक संपन्नता जितनी आवश्यक है उतनी ही उदात्त चरित्रवाले युवकों की नैतिकता एवं जीवनगत उदात्तता की भी आवश्यकता है। इसके अभाव में आर्थिक स्रोतों तथा साधनों का, स्वार्थी मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों के द्वारा दुरुपयोग होता रहेगा जैसा कि सम्प्रति भारत में अत्यधिक मात्रा में दृष्टिगत होता है। जब तक व्यक्ति में अपने राष्ट्र के वास्तविक उत्थान के लिए उदात्त जीवन दृष्टि न हो, तब तक वह मानव समाज की सच्ची सेवा नहीं कर सकता है। अर्थात् समष्टि की सेवा एवं कल्याणकामना के लिए व्यष्टि की त्याग एवं बलिदानयुक्त उदात्त जीवन दृष्टि परम आवश्यक है। भारतीय मनीषियों ने समाज जीवन के लिए निस्वार्थ त्याग को इसी दृष्टिकोण से महत्त्व प्रदान किया है। त्याग से भोग के औपनिषदिक सिद्धांत

को उन्होंने समग्र सामाजिक व्यवस्था की चिरन्तनता के लिए भी निर्मित किया हो ऐसा प्रतीत होता है । तदर्थ भारतीय संस्कृति ने कभी भोगवाद को प्रश्रय नहीं दिया। अपने परिवार एवं आप्तजनों के लिए किया गया सर्वोत्कृष्ट त्याग यद्यपि अपनी जगह पर महान है, तथापि वह सामान्य त्याग समझा गया है । इसकी तुलना में किसी जाति, समाज व राष्ट्र के लिए किया गया नि:स्वार्थ त्याग अधिक महत्वपूर्ण माना जाता रहा है । भारतीय अतीत के गौरववान चरित्र समाज या राष्ट्र के प्रति अपनी उदात्त जीवन दृष्टि पर आधारित त्याग एवं बलिदान की भावना के कारण ही अमरत्व प्राप्त कर पाये हैं, पारिवारिक सुखोपभोगपूर्ण जीवन-प्रणाली के कारण नहीं ।

सामान्यत: अधिकांश व्यक्ति आजीवन 'स्व' की साधना में रत रहा करते हैं , किन्तु सारे चिन्तन एवं व्यवहार को अपने तक ही सीमित रखने पर उसमें व्यापक जीवन दृष्टि या चेतना का विस्तार नहीं हो सकता । इसीलिए इसे पशुत्व की संज्ञा दी गई है । इसके ठीक विपरीत 'पर-साधना' या जन-सामान्य की कल्याण कामनायुक्त सेवा सर्वोत्कृष्ट जीवन-प्रणाली समझी गई है । इस प्रकार मानव मात्र की निस्वार्थ भावापन्न सेवा के लिए त्याग एवं सर्वस्व समर्पण की भावना को परम आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी समझा गया है । बिना इसके लोकमंगल हो ही नहीं सकता ।

जीवन मूल्यों की ह्रासोन्मुख स्थिति में प्राय: प्रत्येक युग के कवियों ने युगीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए तदनुसार त्यागपूर्ण जीवन जीने के लिए जन-समाज को प्रेरित किया है । भक्तिकालीन संत-भक्त कवियों ने विधर्मी शासकों से अपने धर्म एवं संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए तत्कालीन जन-समाज को जाति-पांतिमूलक ऊँच-नीच के भेदभाव का परित्याग करते हुए आध्यात्मिक साधना व भक्ति के

माध्यम से मानव मात्र की एकता का संदेश दिया । इसी प्रकार राष्ट्रीय पुनर्जागरण के युग में जहाँ विदेशी शासकों एवं शोषकों से सर्वभावेन मुक्ति प्राप्त करने का लक्ष्य था वहाँ राष्ट्र की मुक्ति के यज्ञ में यथाशक्ति योगदान देने के उपलक्ष्य से प्राय: तत्कालीन सभी कवियों ने राष्ट्र के लिए सर्वस्व समर्पण की त्याग भावना को उजागर किया । स्वसुख एवं पारिवारिक सुखोपभोग को तिलांजलि देते हुए राष्ट्र के निमित्त प्राणोत्सर्ग तक के त्याग की आशा-आकांक्षा रखी गई । यह उल्लेखनीय है कि समाज व राष्ट्र के लिए त्याग की भावना व्यक्तिगत गुणों से उद्भूत जीवनगत उदार दृष्टि के कारण ही विकसित होती है । इसीलिए साहित्य में आदर्श - चरित्रों के उदात्त जीवन-प्रसंगों का अंकन कर उनके वैयक्तिक एवं सामाजिक आचरण प्रदर्शित करते हुए यह निर्दिष्ट किया जाने लगा कि त्याग ही जीवन का मूल मंत्र है, राग नहीं । इस तरह राष्ट्र की पराधीनावस्था में त्याग एवं बलिदान युगधर्म समझा गया ।

राष्ट्रकवि द्विवेदी जी भी राष्ट्र के लिए त्याग की बलवती भावना से भावित होकर आद्यंत काव्य-साधना में संलग्न रहे हैं । उनकी राष्ट्रीय रचनाओं के अतिरिक्त सांस्कृतिक रचनाओं में भी यह भावना सर्वत्र परिलक्षित होती है । वस्तुत: त्याग एवं प्रेम भारतीय संस्कृति के दो आधार बिंदु हैं । मानव मात्र के प्रति प्रेम व्यक्ति में करुणा उत्पन्न करता है । किसी भी व्यक्ति का कष्ट उसके लिए असह्य बन जाता है । फलत: वह करुणार्द्र होकर उसके कष्ट निवारणार्थ कल्पनातीत त्याग व बलिदान देने को उद्यत हो जाता है । बंधनग्रस्त मातृभूमि को बंधनमुक्त कराने के आंदोलनकारी युग में द्विवेदी जी पारिवारिक रागात्मक व ममतापूर्ण सुखों को छोड़कर 'हो जहां बलि शीश अगणित, एक शिर मेरा मिला लो' वाली प्राणार्पण की बलवती बलिदानी चेतना उजागर करने का यत्न करते हैं । फलत: मरण को वरण करने की जैसे प्रतिस्पर्धा ही जग जाती है । वासवदत्ता रचनांतर्गत 'सरदार चूड़ावत', 'एक बूंद', 'कर्ण और कुन्ती' जैसे उपाख्यानों में तथा विषपान

जैसी रचना में भी विषम परिस्थितियों में ग्रस्त समाज व राष्ट्र के लिए उत्कट त्याग भावना ही दृष्टिगत होती है । संकटग्रस्त मातृभूमि की सुरक्षा के हित युद्ध का संचालन करनेवाले वीर सरदार चूड़ावत अपनी नवविवाहिता पत्नी, जिसके साथ मधुरजनी का विषय सुख भी प्राप्त नहीं किया है, उसका परित्याग करते समय स्वभावत: मनोमंथनकारी संकोच का अनुभव करता है, तब वीरांगना पत्नी स्वयं अपने पति को निश्चिन्त होकर कर्तव्य-कर्म में संलग्न करने के उद्देश्य से सभी प्रकार के पारिवारिक संबंधों एवं सुखों की विस्मृतियुक्त प्रेरणा प्रदान करती हुई निर्विलम्ब निजी मस्तक को काटकर उत्कट त्यागभावना का प्रमाण प्रस्तुत करती है । यथा-

'उस क्षत्राणी ने,
निज शिर को किया छिन्न,
धड़ से उसे किया भिन्न,
दिया उसे हाथ में
अनुचर के साथ में
सो गई परिणय की इस सुहागरात में,
सो गई मिलन के विरह प्रभात में ।'[१८]

पत्नी का विच्छिन्न मस्तक देखकर चूडावत के शरीर में मानो विद्युतप्रवाह का-सा वीरत्व प्राप्त हो गया और पत्नी के छिन्न मस्तक को मालावत् कंठ में धारण कर सोत्साह वह युद्ध के लिए निकल पड़ा । यथा -

'वीर सरदार चूडावत छिन्न शिर हेर
समझ गये सभी, किया पलभर कहीं न देर
रुद्र के समान, शीश कंठ में मालाकर
चला युद्ध करने, क्रुद्ध कर में भालाकर,
जाता जिस ओर, प्रलय घटा बन छाता उधर,

पाट पाट भूमि, लदा -लदा नर मुंडों से
कोटि मुंडमाल रणचंडी के चरणों में
अर्पित समर्पित कर बना वह अजेय,
नित्य गेय ।'[१६]

वस्तुत: सच्चा प्रेम शरीर की नहीं आत्मा की शाश्वत तीव्र विरहानुभूति में परिणत होता है । यहां उदात्त जीवन दृष्टि के कारण त्याग की अग्नि में जलकर क्षत्राणी का प्रणय स्वर्णवत् विशुद्ध एवं पुनीत हो गया है । प्रेम चाहे पारिवारिक हो या समाज व राष्ट्र से सम्बंधित, परित्याग ही उसे दिव्यता की परिसीमा तक पहुंचा देता है । ऐसे ही दिव्य-प्रेम की उपासना भारतीय संस्कृति की विशेषता है ।

'वासवदत्ता', 'उर्वशी', 'कुणाल' जैसे प्रत्याख्यानों में जहाँ स्त्री की कामार्तता पर पुरुष की विजय प्रदर्शित की गई है, वहाँ सरदार चूडावत् में पुरुष की कामार्त प्रणय दृष्टि पर स्त्री की विजय अभिव्यक्त हुई है । उक्त तीनों उपाख्यानों में जहाँ पुरुष की उदात्त चरित्रगत विशेषतायें अभिव्यंजित हुई हैं, वहाँ चूडावत में राष्ट्र की आपत्कालीन स्थिति में उसकी सुरक्षा के हेतु पारिवारिक प्रणय की आहुति दी गई है । दूसरे शब्दों में इसमें बहुजनहिताय परिवार के सुख का उत्सर्ग करने की परंपरागत बलवती महत्वाकांक्षा व्यंजित की हुई है । राष्ट्रीय जागरण के युग में जहाँ कवि एकाधिक राष्ट्रीय रचनाओं के द्वारा जागरण का शंखनाद करते हैं, वहाँ ऐसी रचनाओं के माध्यम से उदात्तता पर आधारित कर्तव्य-बोध एवं राष्ट्र के लिए सर्वस्व समर्पण की अन्तर्प्रेरणा का भी संचार करते हैं ।

'कर्ण और कुंती' नामक उपाख्यान में भी प्राय: उक्त स्वर निनादित है । माँ कुन्ती के ममतापूर्ण पारिवारिक रागात्मक सम्बंध को तिलांजलि देकर मित्र की

आपत्कालीन स्थिति में निजी कर्तव्य-कर्म की भावना से संप्रेरित होकर कर्ण अटल स्वामिभक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करता है। इसमें व्यक्तिगत जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई है। जिनके कारण व्यक्ति आत्मोत्सर्ग का वरण करके अपनी आन की रक्षा करता ही है, साथ ही माँ बेटे के प्रेम से ऊपर उठता है। 'कर्ण और कुंती' के आख्यान को कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी प्रस्तुत किया है। उनके एवं द्विवेदी जी कृत प्रस्तुत आख्यान में विषयगत साम्य होते हुए भी दृष्टिकोण की भिन्नता स्पष्ट परिलक्षित होती है। एक ओर माँ की ममता से विवश रवीन्द्रनाथ द्वारा चित्रित 'कर्ण.' माँ कुंती के सम्मुख, पांडवों के पक्ष में जाकर युद्ध करने की अपनी अभिलाषा एक बार व्यक्त भी कर देता है। यथा -

'चित्त मोर आचम्बिते
पंच पाण्डवेर पाने भाई बले धाय।
----- तोमार आह्याने
अंतरात्मा जागिया छे। नाहि बाजे काने
युद्ध भेरि जयशंख। मिथ्या मने हय
रणहिंसा, वीरख्याति, जय पराजय।
कोथा याब, लये चलो।'[20]

साथ ही कर्तव्य-बोध के कारण माँ को धैर्य प्रदान करते हुए पांडवों की विजय के आशीर्वाद भी देता है। यथा-

'मातः, करियो न भय।
कहिलाम, पाण्डवेर हइबे विजय
------- ये पक्षेर पराजय
से पक्ष त्यजिते मोरे कोरो न आह्वान।
जयी होक, राजा होक पाण्डव सन्तान।'[21]

इसके अतिरिक्त पराजित होनेवाले पक्ष को ही सही पूर्ण कृतज्ञता के साथ संलग्न रहने की माँ से अनुमति भी मांगता है । यथा-

'शुधु एइ आशीर्वाद दिये याओ मोरे,
जयलोभे, यशोलोभे, राज्यलोभे, अयि,
वीरेर सद्गति हते भ्रष्ट नाहि हइ ।'[२३]

दूसरी ओर द्विवेदी जी द्वारा चित्रित कर्ण मां के प्रति अपनी ममता पर पूर्णतया नियंत्रण रखता हुआ कर्तव्यपरायणता एवं अचल-अटल स्वामिभक्ति के लिए आत्मसमर्पण करने के निजी अधिकार को प्रदर्शित करता है । यथा-

'कैसे यह संभव माँ ?
मेरे ही स्कंधों पर है रण का संभार
मेरे ही कर में आज,
निर्भर है विजय-हार ।
---- आज इन्हें छोड़ दूँ,
प्रण के बंध तोड़ दूँ,
रण की गति मोड़ दूँ,
तो क्या होगा नहीं विश्वासघात ?
------ आज मैं कृतघ्न बनूँ कैसे यह संभव है ?
आज कर्तव्य पर चढ़ाऊँगा बलि शीश की,
हृदय की, रक्त की, प्राण की,
त्याग दो दुराशा आज इस परित्राण की ।'[२३]

कर्ण के उक्त तुलनात्मक चित्र से एक तथ्य उद्घाटित होता है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा चित्रित कर्ण अधिक सजीव, चित्रोपम एवं मांसल है । वह कर्तव्य एवं राग की द्वन्द्वात्मक अनुभूति करता है, किन्तु द्विवेदी जी द्वारा चित्रित म कर्ण केवल

कर्तव्यपरायण, निर्मम एवं कठोर सेनानी है । राष्ट्रीय जागरण का शंखनाद करनेवाले द्विवेदी जी का कवि स्वाधीनता प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त सदैव जागृत रहा है । अत: यह कहा जा सकता है कि उसके चरित्रांकन में द्विवेदी जी की राष्ट्रीय सांस्कृतिक दृष्टि क्रियाशील दिखाई पड़ती है । उनके प्राय: सभी चरित्र-नायक पारिवारिक रागात्मक संबंधों से ऊपर उठकर उदात्त दृष्टि लिए युगीन आवश्यकतानुसार कर्तव्यपरायण सेनानी के रूप में आत्मसमर्पण के लिए सन्नद्ध दिखाये गये हैं । सूत्रधार कर्ण भी कर्तव्यपरायण कठोर सेनानी के रूप में निजी पक्ष में ही पराजय या वीरगति प्राप्त करना पसंद करता है, पक्षांतर कर मद ममत्व का अंचल पकड़ना वह स्वीकार नहीं करता । `स्वधर्मे निधनं श्रेय:` वाली दृढ़ संकल्पशक्ति कर्ण की चारित्रिक गरिमा एवं उदात्तता में अभिवृद्धि करती है जो युगोचित है । ऐसे ही उदात्त चरित्रों का गौरवगान भारतीय संस्कृति एवं साहित्य अद्यावधि करते आये हैं । पारिवारिक सम्बंधों की आहुति देता हुआ विपदग्रस्त अपने पक्ष का सूत्रधार बनकर कर्ण राष्ट्रकर्म में प्रवृत्त होता दिखाया गया है ।

`एक बूँद` उपाख्यान भी करुणामिश्रित आत्मोत्सर्ग की लघुकथा है । दुर्भिक्षकालीन मानव-समाज की दारुण अवस्था से विचलित `एक बूंद` अन्य बूंदों के साथ-सहयोग की अपेक्षा रखे बिना लोकमंगल की तीव्रतम सेवावृत्ति लिए निर्विलम्ब निजी अस्तित्व तक को मिटाने का यत्न करती है । यद्यपि उसका परित्याग सार्थक बनाने के उद्देश्य से अन्य बूँदें तथा विशालकाय जलदखंड आकर मूसलाधार वर्षा से अकालपीड़ित जनता का परित्राण करते हैं, तथापि `एक बूँद` का ही त्याग सर्वोत्कृष्ट माना जाना चाहिए क्योंकि सर्वप्रथम उसी ने त्याग प्रदान किया है और वही सबके लिए प्रेरणास्रोत बनी रही है । जीवनगत उदात्त दृष्टि `उर्वशी` एवं `कुणाल` उपाख्यानों में भी पार्थ तथा कुणाल के व्यवहार के द्वारा दिखाई गई है । उर्वशी के अभिशाप देने पर भी उसकी मंगलकामना करता हुआ पार्थ कहता है -

'माँ, शिरोधार्य शाप यह ।
आप नित्य नंदन में सुख से विहार करें
अमर कीर्ति बनकर युग-युग विस्तार करें ।'[२४]

सम्राट अशोक अपनी प्रेयसी तिष्यरक्षिता के घृणित एवं निंद्य षडयंत्रकारी कृत्य पर अत्यधिक क्रुद्ध होकर जब उसे देहांत दंड देने के लिए उद्यत हो जाते हैं तब अपने उदात्त चिंतन को प्रदर्शित करते हुए कुणाल पिता अशोक के चरणों में गिरकर माँ के प्राणों की भीख मांगता है और यदि वे माँ को जीवन दान नहीं दे सकते तो सर्वप्रथम अपने पुत्र कुणाल के प्राणों की आहुति स्वीकार करने की प्रार्थना भी करता है । यथा -

'महाराज। प्रथम हमारा
शीश कर लो छिन्न,
फिर, जननि का शीश होगा
कण्ठ से विच्छिन्न ।
या विनीत भिखारियों को
आज दो यह दान
राजमाता को करो, या
आज क्षमा प्रदान ।'[२५]

सर्व-साधारण मनुष्य उक्त परिस्थिति का समुचित लाभ उठाते हुए यह देखना पसंद करता कि तिष्यरक्षिता को मृत्युदंड प्रदान करने की पिता की आज्ञा का शीघ्रातिशीघ्र पालन हो और 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्' वाली नीति के अनुसार तभी उसकी चित्तवृत्तियों को संतोष लाभ होता। किन्तु कुणाल क एक उदात्त जीवन जीनेवाला व्यक्ति है । तदर्थ वह प्रतिशोध चाहता ही नहीं । वह तो माँ की मंगल कामना ही करता है और उनकी सुरक्षा के हित प्राणोत्सर्ग तक करने को तत्पर हो जाता है । यहाँ कवि ने पार्थ की अपेक्षा कुणाल के चरित्र को अधिक ऊँचा उठाया है । कुणाल का पूर्ण अहिंसात्मक व्यवहार,जो गांधी -चिन्तन पर आधारित है, पाठकों का चित्ताकर्षण करता है ।

सारांशत: उक्त सभी उपाख्यानों में प्राय: एक ही स्वर निनादित होता है। वह है, आपत्कालीन परिस्थितियों में समाज व राष्ट्र की सुरक्षा के हित व्यक्ति को निर्विलंब अपने सभी पारिवारिक रागात्मक सम्बंधों को विच्छिन्न करके उदात्त चिन्तन के आधार पर निस्वार्थ त्याग या बलिदान के लिए सदैव तत्पर रहना

चाहिए । त्याग ही ~~नि~~ दिव्य प्रेम की प्रतीति कराता है, राग नहीं । भारतीय संस्कृति ने इसीलिएजीवन में त्याग को महत्व दिया है, राग को नहीं ।

(ख) मानव-सेवा की भावना :

'सेवा ही परमो धर्म :' मानव-समाज की, जाति-पाँति, ऊँच- नीच धनी-गरीब आदि विभेदक रेखाओं को भूलकर, निस्वार्थ सेवा ही मनुष्य का परम धर्म है, कर्तव्य है । वैयक्तिक स्तर पर स्वार्थान्ध नीतियों का परिपालन करते हुए व्यक्ति वस्तुत: मानव-समाज की सेवा का अपना पवित्र कर्तव्य भूलकर केवल अपनी सेवा, अपने सुख व आनंद के लिए सदैव जीवनयापन करता रहता है । एतदर्थ वह समाज में अपनी स्वार्थी मनोवृत्तियों को थोपता हुआ स्वचिंचित परिणाम की प्राप्ति के लिए अहर्निश यत्नशील रहता है । अत: वह समाज को, सभ्यता को व सांस्कृतिक जीवनमूल्यों को बदलना चाहता है, स्वयं को बदलना नहीं चाहता । वह अपने को सर्वगुणसम्पन्न एवं सर्वशक्तिमान होनेकी घोषणा करता हुआ व्यक्ति तवादी मनोवृत्तियों का परिचालन करता है । वस्तुत: व्यक्ति का निजी स्थान है किन्तु स्वकेन्द्रित रहते हुए भी समाज व राष्ट्र की कल्याण कामना के निमित्त उसे अपने स्वार्थों का त्याग करते हुए मानव-समाज की सेवा के कार्य में संलग्न होना चाहिए क्योंकि व्यक्ति का जीवन लक्ष्य भी वही है । इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए व्यकि त के पास उदात्त नैतिक जीवन दृष्टि का होना अनिवार्य है । इसकी अनुपस्थिति में मानव-समाज की कल्याण-कामना के यज्ञ में वह अपना योगदान कभी नहीं दे सकता । भारतीय संस्कृति इसीलिए लोकमंगलयुक्त मानव-समाज की सेवा को महत्व प्रदान करती आयी है । भगवान राम, कृष्ण , बुद्ध , ईशु आदि सभी ने लोकमंगल को ही अपना जीवनलक्ष्य बनाकर मानव-समाज की सेवा ही की है । तदर्थ वे संस्कृति के सच्चे ज्योतिर्धर बन पाये हैं ।

पं० सोहनलाल द्विवेदी जी ने भी संस्कृति के उक्त महान लक्ष्य का उद्घाटन

कराते हुए अतीतकालीन कतिपय उपाख्यानों को प्रस्तुत किया है । 'वासवदत्ता' रचना के अंतर्गत 'एक बूँद', 'भिक्षाप्राप्ति', वासवदत्ता' आदि उपाख्यानों में लोकमंगल की भावना से ~~भक्ति~~ भावित होकर मानव-सेवा के व्रतधारी चरित्रों का उद्घाटन किया गया है । द्विवेदी जी रचित 'विषपान' खण्डकाव्य का तो प्रमुख उद्देश्य ही लोक-मंगलयुक्त मानव-सेवा है ।

पूर्ववर्ती पृष्ठों में कहा जा चुका है कि 'एकबूँद' में अन्योक्ति के द्वारा कवि ने मानव-समाज की दुर्भिक्षकालीन विडम्बनाओं के निवारणार्थ 'एक बूँद' का समर्पण भाव चित्रित किया है । सच्चा कारुणिक कभी अन्य व्यक्तियों के सहयोग की न अपेक्षा रखता है, न उनकी प्रतीक्षा करते हुए रुकता है । वह तो अविलंब एकाकी ही सही मानवकल्याण के निमित्त आत्मोत्सर्ग तक के त्याग के लिए उद्यत हो जाता है । परार्थ की सेवा के निमित्त उसका निश्छल एवं निस्वार्थ त्याग आनंदप्रद होता है । एक का त्याग, एक की शहादत दूसरों के लिए अदम्य प्रेरणा स्रोत बन जाती है । प्रश्न केवल किसी के प्रारंभ करने का है । 'एकबूँद' की शहादत ने दूसरी बूँदों एवं जलदों को प्रेरणा प्रदान की और सबके सामूहिक सहयोग से अंततोगत्वा विपदग्रस्त मानव-समाज का कष्ट-निवारण हो गया ।

एक बूँद की तरह 'भिक्षा-प्राप्ति' नामक उपाख्यान में भी अकालपीड़ित जनता के कष्ट निवारण की कथा है । 'एकबूँद' में जहाँ जनसमाज के कष्ट निवारणार्थ व्यक्ति के त्याग व शहादत को महत्व प्रदान किया गया वहाँ 'भिक्षाप्राप्ति' में समाज के कहे जानेवाले संरक्षक एवं संपोषक वर्ग के प्रतिनिधियों की अनुदारता एवं अनुत्तरदायी मनोवृत्तियों का रहस्योद्घाटन करते हुए समाज के अभावग्रस्त वर्ग की भिखारिणी के सजग परिश्रमपूर्ण त्याग के महत्व को अंकित किया गया है। उपर्युक्त उद्देश्य से प्रेरित एक बौद्ध ~~जन~~ भिक्षु जब राज्य, वणिक, धनिक आदि सम्पन्न

व्यक्तियों की ओर से निराश होकर गमन कर रहा है तब एक शूद्र भिखारिणी के द्वारा 'मनसावाचाकर्मणा' समाज-सेवा करने के लिए अपनी तत्परता दिखाना अपने आप में अद्वितीय है। वास्तव में वह सेवा कार्य उपर्युक्त महानृप, महासेठ एवं महाधनिकों के द्वारा संपन्न होना चाहिए था किन्तु वे तो स्वार्थपरक चिन्तन करनेवाले तथा गरीबों का शोषण करते हुए उन पर शासन करनेवाले ही होते हैं। सच्चे समाज-सेवक शोषण नहीं पोषण करते हैं। अपना परिश्रम एवं त्यागपूर्ण सेवा-सहयोग के द्वारा वे सदैव लोकमंगल के लिए तत्पर रहते हैं। महाभिक्षुकी की तरह प्रत्येक व्यक्ति में मानव-सेवा के लिए उत्साह, उमंग एवं सर्वस्व परित्याग करने की अदम्य उत्कटता आवश्यक रहती है। इसकी अनुपस्थिति में सच्चे अर्थों में मानव-सेवा का पुनीत कर्तव्य संभव नहीं होता। सच्चा समाज-सेवक शोषकों एवं शासकों का नहीं, शोषितों का पक्षपाती होता है और उनकी निस्वार्थ सेवा ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता है यह निर्दिष्ट करने का कवि ने यत्न किया है। कवि के समग्र काव्य में हम कवि को उन शोषितों के ही पक्षधर के रूप में पाते हैं। अत: वे सच्चे समाज-सेवक हैं। 'वासवदत्ता' के तथागत भी इसी लोकमंगलयुक्त मानव-सेवा के आदर्श से परिचालित होकर रोगग्रस्त एवं समाज की ओर से ~~तिरस्कृत~~-- तिरस्कृत वासवदत्ता के सम्मुख पुन: प्रस्तुत होकर अत्यन्त करुणार्द्र भावापन्नता के साथ अपने निजी करकमलों से उसकी सेवा-सुश्रूषा करते दिखाये गये हैं।

'विषपान' खण्डकाव्य का प्रणयन भी उक्त भावना से ही हुआ है। प्रलयंकारी शंकर आज सृष्टि के अस्तित्व का संरक्षण करने के लोकमंगलकारी महद् उद्देश्य से प्रेरित होकर समुद्रमंथन से उद्भुत महाविष का पान करने का भगीरथ प्रयास करते हैं। आज वे 'शिव' होकर सृष्टि का कल्याण करते हैं। समुद्र मंथन करते हुए अन्य रत्नों के साथ-साथ प्रलयंकारी विष की उत्पत्ति तथा लोककल्याण के निमित्त शिव का विषपान करने की पौराणिक कथा को युगीन संदर्भों में प्रस्तुत करने का कवि का प्रयास स्पष्टरूपेण यह व्यंजित करता है कि मानव-समाज के कल्याण के निमित्त

शिव का ~~बिम्बमत्व~~ सच्चे समाज-सेवक को अत्यन्त निष्ठा के साथ सेवा के कार्य में निरंतर रत रहना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर उसे प्राणोत्सर्ग तक के निस्वार्थ त्याग के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए । ऐसा व्यक्ति अपने लिए नहीं, समाज के लिए जीवित रहता है और मृत्यु को भी सहर्ष स्वीकार करता है । कोई भी प्रलोभन उसे अपने समाज-सेवा के महान् व्रत से च्युत नहीं कर सकता । शिवशंकर एक ऐसे जननायक और लोकमंगलकारी देव हैं जिनके हृदय में विश्वत्राण की मधुर उमंगें निरंतर तरंगायित होती रहती हैं । कवि युगीन विषम परिस्थितियों से क्षुब्ध होकर नूतन समाज नव-रचना के निर्माण के लिए तथा भारतीय संस्कृति के जीवनगत् मूल्यों की सम्यक् प्रतिष्ठा के लिए शिवशंकर से प्रार्थना करते हैं :-

'तुम-सा पाकर निज अधिनायक
फिर मथें सिंधु, हो अमृत पान ।
हो सफल साधना का विधान ।'[२६]

और आशा भी करते हैं कि हे करुणामय शंकर ! तुम्हारी करुणा का वितान इस संसार में सदैव व्याप्त रहे और जनगण की मंगलकामना का तुम्हारा ध्वज कभी भी विचलित न हो । वस्तुत: सुरासुर की तरह मानव मात्र निरंतर मृत्यु से लड़ता हुआ अमृतत्व की प्राप्ति के लिए यत्नशील रहता है । 'मृत' से नित्य- निरन्तर संघर्ष या साधना करता हुआ 'अमृत' कीप्राप्ति करते रहना ही तो जीवन का लक्ष्य है।[२७]

लोकमंगलयुक्त विषपान की उक्त कथा स्वसुख को विस्मृत कर स्वयं कष्टपूर्ण जीवनयापन करते हुए परसुख या बहुजनहिताय त्याग एवं बलिदान देते रहना ही तो सिखाती है । इससे जन-समाज को अमृतलाभ तो होता ही है । साथ ही संघर्ष सहनेवाले या प्राणोत्सर्ग करनेवाले व्यक्ति को भी आत्मतोष रूपी अमृत का लाभ होता है ।

सारांश यह कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण के युग में जहाँ मानवीय जीवन-मूल्यों को पुन: प्रतिष्ठित करने की युगीन आवश्यकता थी वहाँ राष्ट्रीय जागरण के वैतालिक द्विवेदी जी उक्त साँस्कृतिक रचनाओं के सर्जन के द्वारा युगीन आवश्यकता की पूर्ति करने का सफल प्रयास करते हैं। यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि द्विवेदी जी के पूर्व अनेक कवियों ने इस दिशा में अपना यथोचित योगदान देते हुए अतीतकालीन भारतीय ज्योतिर्धरों का गौरवगान करने का यत्न किया था। राष्ट्रीय आन्दोलन के युग में राष्ट्रीय जन-समाज की चेतना को उजागर करने का कार्य जितना आवश्यक एवं महत्वपूर्ण था, उतना ही महत्वपूर्ण कार्य साँस्कृतिक जीवन मूल्यों की प्रस्थापना का भी था। गांधी जी स्वातंत्र्य आंदोलन के साथ-साथ अपनी अहिंसात्मक रीति-नीतियों के आधार पर राष्ट्र निर्माण भी करना चाहते थे। इसके लिए व्यक्ति के निजी उदात्त गुणों को उजागर करते हुए उसे जाति, समाज व राष्ट्र की निस्वार्थ सेवा के लिए तैयार करना भी अनिवार्य था। द्विवेदी जी ने इस दायित्व को भलीभांति समझकर उक्त कृतियों का सर्जन किया। तभी तो उनके उपर्युक्तलिखित प्राय: सभी चरित्र नायक आत्मसंयमी, धैर्यवान, तथा मानव समाज की निष्कलुष भाव से कल्याणकामना में रत दिखाई देते हैं। वे निरीह एवं निर्भीक मनोवृत्ति से राष्ट्र की सेवा करना ही अपना पुनीत कर्तव्य समझते हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे बलिदानी भावना से प्रेरित आत्म समर्पण भी कर देते हैं। अंतत: यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी की उक्त कृतियाँ युगीन परिवेश लिए हुए युगीन आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से लिखी गई हैं जिनका इस दिशा में अपूर्व योगदान स्वयं सिद्ध है।

जीवन -मूल्य :

जीवन मूल्य की परिभाषा एवं उसके ऐतिहासिक विकासक्रम के अनावश्यक विस्तार में न जाकर उसके सर्वसामान्य अर्थबोध पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि मूल्य एक प्रकार से जीवन दृष्टि का प्रतिफलन है। जीवनयापन करते करते मनुष्य में धीरे धीरे उसका स्वाभाविक विकास होता रहता है। जिस समाज व राष्ट्र

में मनुष्य जीवन यापन करता है उसकी युगीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक व सांस्कृतिक सम-विषम परिस्थितियों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसके व्यक्तिगत एवं समाजगत चिंतन पर प्रभाव पड़ता रहता है। मनुष्य बुद्धिजीवी होने के कारण समाजगत विविध चेतनाओं का प्रभाव उसके आंतबाह्य व्यक्तित्व में पड़ना स्वाभाविक है। फलत: उसकी चिन्तन प्रक्रिया तथा जीवन दृष्टि तदनुसार निर्मित होती रहती है। मानव जीवन प्रगतिशील एवं परिवर्तनशील होता है। अत: युगीन परिवर्तित परिस्थितियों के परिणामस्वरूप मनुष्य की जीवन जीने की दृष्टि भी भी परिवर्तित होती रहती है। जिस प्रकार उसकी जीवन दृष्टि के निर्माण में समाजगत बाह्य वातावरण का योगदान होता है उसी प्रकार उसके जन्मजात संस्कार एवं परंपराप्राप्त जीवन-मूल्यों का भी योगदान रहता है। कुल मिलाकर आंतबाह्य वातावरण के प्रभावानुसार व्यक्ति की स्वाभाविक रूप से जीवन दृष्टि निर्मित होती है। यदि उसकी चेतना परंपरावादी अधिक है तो वह एक निर्धारित जीवन दृष्टि के अनुसार अपना जीवन क्रम निश्चित कर लेता है और इससे विपरीत जीवन दृष्टि का या तो वह विरोध प्रकट करता है या स्वयं उसके वशीभूत होकर अपनी चेतना को कुंठित कर लेता है। यदि उसकी प्रकृति परंपरावादी नहीं है तो वह नूतन जीवन-दृष्टि को शीघ्र स्वीकार करते हुए उसके अनुकूल अपना जीवन बना लेता है। जीवन मूल्यों के निर्माण की प्रक्रिया अत्यन्त स्वाभाविक होती है। मनुष्य की आशा-आकांक्षाओं, मान्यताओं एवं विश्वासों के अनुसार जीवन मूल्यों का विकास होता रहता है। किसी युग-विशेष में कोई जीवन मूल्य जन-जीवन का अधिक विश्वास प्राप्त कर सकता है तो कोई अन्य जीवन मूल्य विश्वास खो भी बैठता है। वह युग सापेक्ष होता है। इस दृष्टि से जीवन मूल्य शाश्वत नहीं हुआ करता। जो मूल्य अतीत में अधिक स्वीकार हुआ, वह वर्तमान या भविष्य में स्वीकार होगा ही, यह नहीं कहा जा सकता। जब जीवन ही परिवर्तनशील है तो जीवन मूल्य भी प्रकृतितया परिवर्तनशील ही होगा। फिर भी कुछ ऐसे जीवन-मूल्य होते हैं जो युग निरपेक्ष होते हैं। मानवमात्र के प्रति प्रेम, करुणा, पातिव्रत्य या एक पत्नीव्रत,

पर स्त्री मात समान, सत्य बोलना, चोरी न करना आदि नैतिक मूल्य इसके प्रमाण हैं । इन्हें चिरस्थायी या शाश्वत जीवन मूल्य कह सकते हैं । ऐसे मूल्य युगों से जन-जीवन की मान्यताओं एवं विश्वासों पर आधारित रहते हैं । इन्हें उदात्त जीवन-मूल्य भी कहा गया है । युग सापेक्ष मूल्य युग के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं । युग की मान्यताओं के अनुसार परिवर्तित हो न होनेवाले पुरातन मूल्यों का सहजिक रूप से ह्रास तथा उन्मूलन भी होता रहता है । साथ ही परंपरागत मूल्यों की नवीन युगीन परिवेश में नूतन व्याख्या की भी प्रक्रिया चलती रहती है । इस प्रकार जीवन मूल्यों के सर्जन-विसर्जन या निर्माण व उन्मूलन की प्रक्रिया जीवन विकास के साथ-साथ स्वाभाविक रूप से निरन्तर चलती रहती है । इस प्रक्रिया को शक्ति एवं गति प्रदान करने का कार्य समाज के प्रबुद्ध एवं उदात्त जीवन दृष्टि वाले विशेष व्यक्तियों के द्वारा सम्पन्न होता है । मूल्य-निर्माण की ऐतिहासिक परंपरा इस तथ्य का साक्ष्य उपस्थित करती है ।

जब कभी किसी समाज या राष्ट्र में जीवन गत उदात्त मूल्यों का ह्रास होने लगता है, और मानव-समाज स्वत्वहीन और आत्मशक्ति विहीन हो जाता है, अर्थात् मानव जीवन विकलांग हो जाता है, तब समाज के प्रबुद्ध व्यक्ति मूल्यों के ह्रास को रोकते हुए वर्तमान के लिए अनुचित एवं अनावश्यक मूल्यों का परित्याग एवं नवीन आवश्यक मूल्यों का ग्रहण तथा पुरातन परंपरागत मूल्यों की युगीन परिवेश में व्याख्या का कार्य करते रहते हैं । उन्नीसवीं शताब्दी का सांस्कृतिक पुनर्जागरण आंदोलन इसका सशक्त प्रमाण है । उस समय युगीन नवविकसित परिस्थितियों के प्रतिकूल कुछ अनुदात्त जीवनमूल्य विद्यमान थे जिनको आधार बनाकर ब्रिटिश शासक अपने धर्म व संस्कृति को उच्चस्तरीय सिद्ध करने का यत्न करते थे । संस्कृति के इस संक्रमणकाल में स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ आदि प्रबुद्ध समाज-सुधारकों ने भारतीय संस्कृति के उदात्त जीवन मूल्यों को पुन: प्रतिष्ठित करने के लिए तथा पर्दाप्रथा , बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि युगीन परिवेश में प्रतिकूल

पड़नेवाले अनुदात्त जीवन-मूल्यों के उन्मूलन के लिए आंदोलन प्रारंभ किया । साथ ही नारी के उत्कर्ष तथा उसका सामाजिक महत्वं बढ़ाने की दिशा में उन समाज-सुधारकों एवं साहित्यकारों या कवियों ने जो यत्न किये वह पूर्ववर्ती पृष्ठों में लक्ष्य कर चुके हैं । यह पुनर्जागरण की सुधारवादी प्रक्रिया दीर्घकाल तक चलती रही । राष्ट्रीय आंदोलन कालांतर्गत भी राजनीतिक जागरण के साथ-साथ सांस्कृतिक उदात्त -जीवन मूल्यों की पुन: प्रतिष्ठा की प्रक्रिया निरन्तर चलती रही । साथ ही गांधी-निर्दिष्ट नवीन जीवन मूल्यों के विकास की प्रक्रिया भी प्रारंभ हुई । यद्यपि राष्ट्रीय आंदोलन का प्रमुख लक्ष्य राजनीतिक स्वातंत्र्य-प्राप्ति का ही रहा और तदनुसार नूतन जीवन-दृष्टि भी विकसित होती रही, तथापि गांधी जी ने रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा वैयक्तिक एवं सामाजिक स्तर पर नूतन जीवन मूल्यों के विकास की नींव रखी । पराधीन युग में इन मूल्यों को जन जीवन के द्वारा जितना ग्रहण किया गया, स्वातंत्र्योत्तरकाल में उतना विश्वास प्राप्त न हो सका । विदेशी शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार, भिन्न आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों तथा कला, विज्ञान, उद्योग आदि के व्यापक प्रभाव के कारण उद्भूत नवीन जीवन दृष्टियों की तुलना में, व्यवस्थित संचालन के अभाव में गांधी निर्दिष्ट उन उदात्त जीवन मूल्यों को कम स्थान मिलने लगा । यह उल्लेखनीय है कि भारतीय संस्कृति अपने उदात्त जीवन मूल्यों के बल पर गौरव प्राप्त करती रही है । भारत धर्मप्रवण देश होने के कारण संस्कृति के इस आदर्श पक्ष की ओर उसका अधिक झुकाव रहा है । जब कभी इन उदात्त समझे जानेवाले जीवन मूल्यों का ह्रास होता रहा है, समाज के प्रबुद्ध व्यक्तियों ने उनकी पुन: प्रतिष्ठा , युगीन संदर्भ में ~~नविन~~ नवीन व्याख्या के साथ, का यत्न किया है । सम्प्रति इन उदात्त मूल्यों का ह्रास पुन: एक बार दृष्टिगत हो रहा है । विदेशी सभ्यता व संस्कृति के नूतन जीवन मूल्य, जो वास्तव में भारतीय जलवायु और दर्शन के बिल्कुल विपरीत -से हैं, बुरी तरह विकसित हो रहे हैं । ऐसी स्थिति में भारतीय जन-समाज आज पुन: एक बार संभ्रमावस्था में ग्रस्त होने लगा है । साथ ही वह ~~न~~ अपनी स्वत्वहीनता एवं आत्मशक्ति के अभाव का अनुभव

करने लगा है । अत: आज पुन: भगवान बुद्ध, तुलसीदास, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द या महात्मा गांधी जैसे संस्कृति के ज्योतिर्धरों की , नये परिवेश में उन उदात्त जीवन मूल्यों के विकास के लिए, अनिवार्यता प्रतीत हो रही है ।

पंडित सोहनलाल द्विवेदी भी संस्कृति के इन उदात्त मूल्यों की युगीन संदर्भों में पुन: प्रतिष्ठा में मानते हैं । संस्कृति के इस आदर्श पक्ष को उन्होंने अपनी रचनाओं में उजागर किया है । उनके काव्य में निम्नलिखित जीवन-मूल्य अभिव्यक्त हुए हैं -

१- व्यक्तिगत जीवन-मूल्य
२- सामाजिक जीवन-मूल्य
३- राजनीतिक जीवन-मूल्य

१-व्यक्तिगत जीवन-मूल्य :

द्विवेदी जी ने अपने समस्त वांगमय में उदात्त वैयक्तिक जीवन मूल्यों को प्रसंगानुसार प्रकाशित किया है । स्वयं एक साधक होने पर वे स्वस्थ समाज-निर्माण में वैयक्तिक उदात्त मूल्यों को महत्व प्रदान करते रहे हैं । हमने देखा कि उनकी - सांस्कृतिक कृतियों में प्राय: सभी चरित्रनायक आवश्यक वैयक्तिक मूल्यों से सुसम्पन्न हैं। उनकी राष्ट्रीय एवं बाल-साहित्य परक रचनाओं में भी वैयक्तिक उदात्त मूल्यों को महत्व मिला है । उनकी समस्त रचनाओं में प्राय: जो वैयक्तिक मूल्य अभिव्यक्त हुए हैं उनमें आत्मसंयम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । उदात्त जीवन दृष्टि के विकास के लिए उनके विचार में आत्मसंयम परम आवश्यक है । 'वासवदत्ता' कृति के अंतर्गत 'तथागत', 'पार्थ', 'कुणाल' आदि चरित्र नायकों में आत्मसंयम को भलीभांति निर्दिष्ट किया गया है । उनका आत्मसंयम कामोद्दीपक वातावरण में भी अटल रहता है । आत्म-संयमपूर्ण जीवन मूल्य को मात्र वासना की तृप्ति तक ही सीमित नहीं समझा गया। उसे व्यापक धरातल पर ग्रहण करते हुए गांधी जी की पंच प्रतिज्ञाओं (सत्य,अहिंसा,

अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य) के पालन के रूप में अभिव्यक्त किया गया है । तदर्थ स्वतंत्रता प्राप्ति एवं समाज-नव-रचना के लक्ष्य की पूर्ति करनेवाले सत्याग्रही युवक में उक्त दृष्टिकोण से आत्मसंयम को महत्व दिया गया है । 'युगाधार' के अंतर्गत 'हमको ऐसे युवक चाहिए' शीर्षक कविता में ऐसे ही आत्मसंयम को अभिव्यक्ति मिली है । यथा-

'ब्रह्मचर्य से मुख मंडल पर
चमक रहा हो तेज अपरिमित
जिनका हो सुगठित शरीर
दृढ़ भुज दंडों में बल हो शोभित ।
रस विलास के रहे न लोलुप
जिनमें हो विराग वैभव का
अतुल त्याग हो छिपा देशहित
जिन्हें गर्व हो निज गौरव का ।
सदा सत्य-पथ के अनुयायी
जिन्हें अनृत से मन में भय हो,
दुर्बल के बल बनने के हित
जिनमें शाश्वत भाव उदय हो ।'[२८]

ऐसे ही आत्मसंयम को 'सत्याग्रही' शीर्षक काव्य में भी दृष्टिगत किया जा सकता है । ऐसा आत्मसंयमी सेनानी जो वैभव-विलासपूर्ण जीवन का परित्याग करता है, सादगीपूर्ण जीवन जीना पसंद करता है । अतः आधुनिक युग में सादगीपूर्ण जीवन दृष्टि भी विकसित होने लगी । गांधी जी के साथ-साथ अनेक सत्याग्रहियों ने सादगी को जीवन में महत्व देना प्रारंभ किया । स्वयं कवि ने भी इसे व्यक्तिगत जीवन में अपनाया । सादगी के प्रतीक के रूप में कवि का 'खादीगीत' प्रस्तुत किया जा सकता है ।

इसके अतिरिक्त आत्मविश्वास जैसे मूल्य को भी उनके काव्य में अभिव्यक्ति मिली है । विश्वास जीवन का मूलाधार है । इससे व्यक्ति के प्रत्येक कार्य में उत्साह दृष्टिगत होता है । इसके अभाव में निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति सम्यक् रूपेण नहीं हो सकती । कवि का समूचा काव्य उत्साह एवं आत्म विश्वास के जीवन मूल्य से परिपूरित है । यही विश्वास भय और संभ्रम से व्यक्ति को दूर रखता हुआ लक्ष्य-प्राप्ति के लिए कृत-संकल्प बनाता है जो उनकी कविताओं में प्राय: देखा जा सकता है-

'तरुण । विश्व की बाग्डोर ले
तू अपने कठोर कर में,
स्थापित कर रे मानवता
बर्बर नृशंस जग के उर में ।'[२६]

आत्मसंयमी व्यक्ति नैतिकतापूर्ण जीवनयापन करते हुए आत्मबल को विकसित कर लेता है । आत्मबल ही वास्तव में मानव का सच्चा बल है जो आन्तरिक बल होते हुए, समस्त प्रकार के बाहरी बलों से श्रेष्ठ है । तदर्थ उसकी विजय निश्चित होती है । अत: इसे भी व्यक्तिगत जीवन मूल्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । गांधीवादी सत्याग्रह हमेशा आत्मबल पर विश्वास करके ही हिंसावादी पशुबल पर विजय प्राप्त करता रहता है । आत्मबल पर विश्वास प्राय: कवि की समस्त राष्ट्रीय रचनाओं में दृष्टिगत होता है । यथा -

'आज आत्मबल ऊपर उठता
पशु-बल पद-तल पर झुक आया,
आज जागरण है स्वदेश में
पलट रही है अपनी काया ।'[३०]

आत्मबल पर विश्वास न रखनेवाला व्यक्ति दूसरों के बल पर कभी भी विश्वास

नहीं करेगा । वह आत्मनिर्भर होगा, पर-निर्भर नहीं । अत: व्यक्ति के निजी विकास एवं समाज व राष्ट्र के वास्तविक उत्कर्ष के लिए आत्मनिर्भरता का मूल्य अपना विशिष्ट स्थान रखता है । राष्ट्र को आत्मनिर्भर बनाने की दृष्टि व्यक्ति को उद्यमी बनाती है । व्यक्ति एवं राष्ट्र के आत्मनिर्भर बन जाने पर सच्चे अर्थों में वह स्वाधीन बना रहता है । द्विवेदी जी के काव्य में विशेषकर दलित एवं पीड़ित वर्ग के जागरण एवं निर्माण के संदर्भ में लिखित रचनाओं में आत्म निर्भरता का मूल्य भलीभांति परिलक्षित किया जा सकता है ।

इस तरह समग्रतया कवि के काव्य का अनुशीलन करने पर उनके काव्य में आत्म संयम, आत्म विश्वास, आत्मबल, आत्मनिर्भरता, सादगी आदि व्यक्तिगत जीवन मूल्यों को प्रसंगानुसार अभिव्यक्ति मिली है जो वैयक्तिक उदात्त जीवन मूल्यों पर आधारित है ।

२-सामाजिक मूल्य :

सामाजिक जीवन दृष्टि के अंतर्गत पूर्ववर्ती पृष्ठों में नैतिकता और जीवनगत उदात्तता पर विचार करते हुए यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि 'वासवदत्ता', 'कुणाल' तथा 'विषपान' के प्राय: सभी चरित्र नैतिकता से परिपूर्ण हैं । समाज जीवन में चरित्र गठन को महत्त्व प्रदान किया गया है । उनके प्राय: सभी चरित्र उदात्त जीवन दृष्टि लिए मानव-समाज की कल्याण-कामना में रत रहते हैं । तदर्थ निस्वार्थ त्याग एवं बलिदान की भावना भी उनमें दृष्टिगत होती है । उनकी राष्ट्रीय कृतियों में भी नैतिकतापूर्ण उदात्त जीवन दृष्टि प्राय: सर्वत्र मिलती है । स्वाधीनता प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति के लिए कवि ने इसे आवश्यक समझा है । कवि गांधी निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर देश के तरुण को पारिवारिक सुखों की तिलांजलि देते हुए राष्ट्र के यज्ञ में (स्वाधीनता-प्राप्ति एवं राष्ट्र-निर्माण) अपनी आहुति देने की प्रेरणा देते हैं । राष्ट्रीय रचनाओं का अनुशीलन करते हुए इसे सोदाहरण प्रस्तुत किया जा चुका है ।

मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए कवि किसान, मजदूर आदि समाज के दलित एवं पीड़ित जन-समुदाय के उत्कर्ष के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे हैं। साम्राज्यवादियों एवं पूंजीपतियों के द्वारा चलाई जानेवाली शोषण की नीति का विरोध कर कवि उन किसान और मजदूरों को जगाते हुए उनमें आत्म विश्वास भरने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु मार्क्सवादी चिन्तन के अनुसार पूंजीपतियों के विनाश की बात न कहकर शोषण की पद्धति का निर्वासन करने के लिए उन दलितों को ही उनके आत्म बल का परिचय कराते हुए उनके उत्थान का प्रयास अधिक करते हैं। अर्थात् रचनात्मक कार्य की ओर उनका झुकाव अधिक दीखता है। प्राय: गांधी निर्दिष्ट निर्माणमूलक कार्यक्रमों के माध्यम से विकसमान सामाजिक मूल्यों को गति देने का कार्य उनकी कविता करती रही है।

इसके अतिरिक्त ब्रिटिश शासकों की कूटनीति के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन के युग में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक वैमनस्य की दृष्टि विकसित हो रही थी। गांधी जी समेत इस अनावश्यक दृष्टि को विकसित होने से रोकने का भरसक प्रयत्न करते रहे। राष्ट्र की अखंडता के लिए इस दिशा में प्रयास आवश्यक था। अन्य राष्ट्रीय कवियों की तरह द्विवेदी जी भी साम्प्रदायिक वैमनस्य एवं विद्वेष को दूर करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं -

'फिर लड़ते हो क्यों आपस में ?
कैसा बैर भरा नस नस में ?
तुम हो किस दानव के वश में ?
यह षड्यंत्र सिखाया किसने ?
तुम उसको जानो !
हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख इसाई,
क्या न सभी हैं भाई-भाई,
जन्मभूमि है सबकी माई।
क्यों न कोटि कंठों से मिल फिर

जय वितान तानो ?
यह हठ और न ठानो ।'[31]

श्रम का महत्व और ट्रस्टीशिप की विशिष्ट जीवन दृष्टि के विकास में गति देने का कार्य भी द्विवेदी जी की कतिपय रचनाओं के द्वारा संपन्न हुआ । 'भैरवी' के अंतर्गत 'गांवों में', 'झोंपड़ियों की ओर' 'किसान' तथा 'युगाधार' के अंतर्गत 'हलधर से', 'मजदूर' आदि कविताएं इसका प्रमाण प्रस्तुत करती हैं ।

साथ ही मानव-साम्य के उदात्त मूल्य के आधार पर युगीन आवश्यकतानुसार हरिजनोद्धार का कार्य परम आवश्यक समझा जाने लगा था । स्वस्थ समाज-निर्माण के लिए समाज के उक्त वर्ग के सम्यक् उत्कर्ष एवं उसका सामाजिक महत्व बढ़ाने के लिए गांधी जी ने हरिजनोद्धार का राष्ट्रीय कार्य प्रारंभ किया था जिससे इस दिशा में जन-जीवन की एक विशिष्ट दृष्टि विकसित हो रही थी । हरिजनों के सामाजिक महत्व के साथ-साथ उन्हें हिन्दू धर्म में सम्मिलित कर लेने के प्रयास में उन्हें मंदिर-प्रवेश दिलाने का आंदोलन चल रहा था । फलत: यह एक नूतन दृष्टि धीरे-धीरे विकसित होती जा रही थी । द्विवेदी जी का कवि भी इस युगीन जीवन दृष्टि के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करते हुए हरिजनों के मंदिर-प्रवेश के संदर्भ में लिखते हैं -

'खोलो मंदिर द्वार पुजारी
मत ठुकराओ, चरण धूलि
लूँ, बार-बार जाऊँ बलिहारी ।
सच मानो, तुमको न कभी मैं
भूलूँगा, मेरे उपकारी ।
प्रभु की सुधि के साथ-साथ
आयेगी प्रतिदिन याद तुम्हारी
खोलो मंदिर-द्वार पुजारी ।'[32]

इस तरह समग्रतया द्विवेदी जी के काव्य का अनुशीलन करने पर उनके काव्य में नैतिकतापूर्ण उदात्त जीवन दृष्टि, मानवतावादी दृष्टिकोण, साम्प्रदायिक वैमनस्य के विरोध की दृष्टि, जीवन में श्रम का महत्व, ट्रस्टीशिप की दृष्टि तथा मानव-साम्य पर आधारित सामाजिक जीवन मूल्यों को अभिव्यक्ति मिली है ।

३-राजनीतिक मूल्य :

राष्ट्रीय आंदोलन के युग में स्वातंत्र्य-प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति करने के उद्देश्य से गांधी जी के नेतृत्व में राजनीतिक स्तर पर कतिपय नूतन जीवन मूल्यों का विकास होने लगा । स्वतंत्रता-प्राप्ति की एक विशिष्ट आकांक्षायुक्त जीवनदृष्टि विकसित होने लगी । इसके पूर्व भारत ने भूतकाल में इतने बड़े व्यापक रूप में स्वतंत्रता की इतनी आकांक्षा कभी व्यक्त नहीं की । समूचा जन-जीवन इसकी प्राप्ति के लिए बैचैन रहा और उसकी शीघ्र प्राप्ति के लिए ही चिंतन करता रहा । इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए जन-जीवन में राष्ट्रीयता का भाव भी विकसित होने लगा । कुछ अपवादों को छोड़कर सामान्य जन-जीवन राष्ट्रीय एकता का अनुभव करने लगा । प्राय: सभी अपने को एक भारत-राष्ट्र का गौरव के साथ नागरिक समझने लगे । अर्थात् समस्त भारत में जहाँ एक ओर स्वतंत्रता का जीवन मूल्य विकसित हो रहा था वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रीयता का मूल्य भी विकसित होने लगा । यद्यपि भारत की पुरातनकालीन राष्ट्रीयता को पूर्ववर्ती पृष्ठों में हम लक्ष्य कर चुके हैं, तथापि आधुनिक युगीन संदर्भों में भारत एक उदित राष्ट्र के रूप में उभरने लगा । राष्ट्रीयता का इतने व्यापक धरातल पर विकास आधुनिक युग की देन है । इन विकसमान मूल्यों को गांधी जी का नेतृत्व मिल गया । अत: उसमें गति एवं शक्ति का संचार हुआ । गांधी जी स्वतंत्रता प्राप्ति के लक्ष्य को 'सत्याग्रह' द्वारा प्राप्त करना चाहते थे । वे एक निजी चिन्तन लेकर राजनीति में प्रविष्ट हुए थे । वे साम्राज्यवादी ब्रिटिश शासकों की अन्याय एवं अनीतिपूर्ण जीवन दृष्टि का विरोध करना चाहते थे । वास्तव में उनकी बर्बर हिंसावादी परंपरागत नीतियों का प्रतिकार करना उनका लक्ष्य था । अत: राजनीति

के सूत्रों को संभालते ही वे अपनी विशिष्ट चिंतनपुष्ट अहिंसक रीति-नीति की जीवन दृष्टि का विकास चाहते थे। जन-जीवन को अपनी इन नीतियों की ओर आकृष्ट करते हुए उनमें अहिंसक जीवन दृष्टि के विकास के लिए उन्होंने 'सत्याग्रह' के अमोघ शस्त्र को प्रस्तुत किया । उनके विचार में असत्य व अन्याय को निर्मूल करने और उसकी जगह सत्य व न्याय -नीति की प्रतिष्ठा के लिए अहिंसात्मक प्रतिकार ही एक मात्र उपाय है। अहिंसात्मक मार्ग(साधन) के द्वारा सत्य(स्वतंत्रता प्राप्ति का तात्कालिक सत्य) की प्राप्ति का आग्रह ही 'सत्याग्रह' है। सत्याग्रह की महती विशेषता यह है कि इसमें असत्य, अन्याय व शोषणगत बुराइयों को दूर करने के लिए उन शोषकों व शासकों के विरुद्ध अहिंसक अभियान चलाया जाता है। इससे एक वातावरण निर्मित होता है कि शोषक व शासक अन्यायी है और उसके विरुद्ध जन-जीवन में जागृति आती है। जन-जीवन की चेतना जागृत होने पर उसमें सत्याग्रही जीवन दृष्टि का विकास होता रहता है। इसमें व्यक्ति के विरुद्ध नहीं उसकी जीवन दृष्टि या उसके अनीतिमय चिन्तन के विरुद्ध स्वर उठाया जाता है। इस दृष्टि से सत्याग्रह हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया है। गांधी जी ने अत्यधिक प्रभावशाली किन्तु भयावह इस अमोघ शस्त्र का राजनीतिक धरातल पर एक विशेष दर्शन के रूप में उपयोग किया । संभवत: सत्ता एवं शासन के प्रति अहिंसात्मक सत्याग्रहों के प्रयोग के रूप में यह भारतीय इतिहास में अद्वितीय जीवन मूल्य है जिसे आज भी जन-समाज के द्वारा उदात्त जीवन मूल्य के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। द्विवेदी जी ने अपने काव्य में सत्याग्रह के इस मूल्य को प्रकाशित किया है। उनकी समस्त रचनाओं में स्वतंत्रता-प्राप्ति(सत्य) के लक्ष्य की पूर्ति की संवेदनाजन्य प्रेरणा ~~मिलनी-ह~~ मिलती है। उसके लिए उन्होंने अहिंसक मार्ग का आग्रह व्यक्त करते हुए वास्तव में सत्याग्रह के मूल्य की पूर्ति के पश्चात् समाज नव-रचना में स्वराज्य के शासकों की इस मूल्य के प्रति उदासीनता एवं उपेक्षा को वे सहन नहीं कर सकते और शासनगत भ्रष्टता एवं ~~उपेक्षा को वे सहन नहीं कर सकते और शासनगत~~ उदात्त जीवन-मूल्यों का अध:पतन देखकर शासन के विरुद्ध अपना आक्रोश व्यक्त करते हैं।

सत्याग्रह के अहिंसामूलक मार्ग की सफलता उसके साधनों की शुद्धि पर निर्भर है । अतः गांधी जी ने साधन शुद्धि पर अधिक बल दिया । उनके विचार में यदि साधन(मार्ग-प्रणाली) शुद्ध एवं पवित्र नहीं है तो साध्य भी उतना पवित्र और आनंदकर नहीं हो सकता । अतः न साधन-शुद्धि की एक विशिष्ट जीवन दृष्टि का विकास होने लगा । व्यक्ति त एवं समाज के वास्तविक उत्कर्ष के लिए साधन-शुद्धि भी एक महत्व-पूर्ण जीवन-मूल्य समझा जाने लगा । द्विवेदी जी के काव्य में भी अहिंसक साधनों (मानव-प्रेम, करुणा, आत्मपीड़न, आत्मसंयम, नैतिकता आदि) का आग्रह दृष्टिगत होता है । उपवास भी अहिंसक साधन के रूप में प्रयुक्त होता रहा है, जिसके संदर्भ में पूर्ववर्ती पृष्ठों में विचार किया जा चुका है ।

समग्रतया विचार करने पर द्विवेदी जी के काव्य में स्वातंत्र्य-प्राप्ति, राष्ट्रीयता, सत्याग्रह, साधन शुद्धि आदि राजनीतिक जीवन मूल्यों का समावेश मिलता है ।

<u>सन्दर्भ-सूची :</u>

१- डा० मदनगोपाल गुप्त, `मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, पृ० २१

२- डा० विजयेन्द्र स्नातक, (डॉ. गुप्त कृत) `भारतीय साहित्य और संस्कृति` की भूमि से उद्धृत ।

३- डा० मदनगोपाल गुप्त, `भारतीय साहित्य और संस्कृति` के निबंध-१ से उद्धृत पृ०६

४- सोहनलाल द्विवेदी, `वासवदत्ता` प्रथम संस्करण की भूमिका से उद्धृत ।

५- `वासवदत्ता` उपाख्यान, पृ० ३-४

६- वही, पृ० ३

७- `वासवदत्ता` प्रथम संस्करण की भूमिका से उद्धृत ।

८- `वासवदत्ता के प्रत्याख्यान के समान ही एक और प्रत्याख्यान का भी द्विवेदी जी ने चित्रण किया है । यह है अर्जुन द्वारा उर्वशी के प्रणय निवेदन का अस्वीकरण। उनका प्रत्याख्यान विधिनिषेधों से उत्पन्न संयमजन्य है । `(वासवदत्ता, अभिमत- (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३)

९- `वासवदत्ता`, `उर्वशी` उपाख्यान, पृ० १५-१६

१०- वही, `कुणाल` उपाख्यान, पृ० ४४-४५

११- `वासवदत्ता`, `उर्वशी` प्रत्याख्यान, पृ० १८

१२- वही, `कुणाल` प्रत्याख्यान, पृ० ४६

१३- वही, [illegible] `वासवदत्ता` प्रत्याख्यान, पृ० ६

१४- `वासवदत्ता` प्रत्याख्यान, पृ० ६

१५- वही-

१६- `कुणाल` खण्डकाव्य, सर्ग १५, पृ० १३३

१७- कवि भी स्वयं रचना के प्रारंभ में निवेदन के अंतर्गत प्रायः यही बात कहते हैं:- `इस प्रबंध के लिखने का एक मात्र मेरा उद्देश्य यह है कि यह समाज के युवकों के चरित्र-निर्माण में सहायक हो ।`

`निवेदन`- कुणाल(खण्डकाव्य) से उद्धृत ।

१८- `वासवदत्ता`,`सरदार चूड़ावत`, प्रत्याख्यान, पृ० २४-२५

१९- वही, पृ० २५

२०- रवीन्द्रनाथ ठाकुर,`कर्ण और कुन्ती`

२१- वही,

२२- वही-

२३- `वासवदत्ता`,`कर्ण और कुन्ती` उपाख्यान, पृ० ३३

२४- `वासवदत्ता``उर्वशी` उपाख्यान, पृ० १८

२५- कुणाल(खण्डकाव्य) सर्ग १४, पृ० १२७

२६- `विषपान` खण्डकाव्य,`अंतिम सर्ग का अंतिम गीत` पृ० ४५

२७- `अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्या अमृतमश्नुते।` ईशावास्योपनिषद् ११वां श्लोक। (मृत्यु का अर्थ वासना भी किया जाता है।)

२८- `युगाधार`,`हमको ऐसे युवक चाहिए`(शीर्षक) पृ० ४२-४४

२९- `भैरवी`,`तरुण`(शीर्षक), पृ० ८३

३०- `युगाधार`,`जन-जागरण`(शीर्षक) पृ० ५६

३१- `पूजागीत`,`यह हठ और न ठानो`(शीर्षक) पृ० ६२-६३

३२- `भैरवी`,`हरिजनों का गीत`(शीर्षक) पृ० ६३

000